इण्डो-पार्थियन इतिहास

लल्लनजी गोपाल

मौर्य साम्राज्य के पतन के साथ पश्चिमोत्तर सीमा को पार कर विदेशी आक्रमणो का जो क्रम चला उसका भारतीय स्रोतो मे अत्यल्प उल्लेख है। इन विदेशी राजवशो का क्रमवद्ध इतिहास प्रस्तुत करने मे भारतीय साहित्य से कोई उल्लेखनीय सहायता नही मिलती। इनके इतिहास का प्रमुख आधार इनकी मुद्राएँ हैं। विदेशी विद्वानो ने भारतीय इतिहास के इस अश का समुचित ध्यान दिया है। उन्ही के प्रयत्नो के परिणामस्वरूप हम इन राजवशो के इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत कर सके हैं। इन विद्वानो मे कनिंघम, स्मिथ, रैप्सन, व्हाइटहेड और टार्न के नाम प्रमुख है। ऐतिहासिक शोध की यह परम्परा पाश्चात्य विद्वानो मे आज भी बनी हुई है। प्रारम्भ मे भारतीय विद्वान मुद्राशास्त्रीय प्रमाणो के स्वतन्त्र और विस्तृत विश्लेषण की सभावनाओ को अधिक महत्त्व नही दे सके थे। हेमचन्द्र रायचौधरी, दिनेशचन्द्र सरकार और सुधाकर चट्टोपाध्याय ने इन राजवशो का इतिहास लिखने मे मुद्राओ का उपयोग किया है। किन्तु इस क्षेत्र मे सर्वप्रथम स्वतन्त्र रूप से मुद्राओ का विधिवत और शास्त्रीय विश्लेषण कर ऐतिहासिक पुनर्निर्माण का प्रयास जितेन्द्रनाथ वनर्जी ने किया। प्राचीन भारतीय इतिहास के सन्दर्भ मे मुद्राशास्त्रीय प्रमाण की प्रतिष्ठा के साथ इधर कई भारतीय विद्वानो ने इन विदेशी राजवशो की मुद्राओ का वैज्ञानिक विवेचन किया है। किन्तु ये अध्ययन मुख्यत. इण्डो ग्रीक और कुषाणो से सम्बन्धित रहे है। इण्डो-पार्थियन इतिहास की ओर भारतीय विद्वानो ने ही नही विदेशी विद्वानो ने भी समुचित ध्यान नही दिया था। इस दृष्टि से डा ब्रतीन्द्रनाथ मुखर्जी की प्रस्तुत कृति स्तुत्य है* ।

इस अध्ययन मे प्रमुख सामग्री मुद्राशास्त्रीय है। किन्तु अन्य सभी स्रोतो से सभी सम्भव सामग्री का उपयोग किया गया है। अभिलेखो के अतिरिक्त साहित्यिक प्रमाणो का भी सूक्ष्म विवेचन है। विदेशी साहित्य के स्रोतो मे से अग्रिप्पा (Agrippa) नामक एक रोमन अधिकारी द्वारा एकत्रित सूचना का विशेष महत्त्व है। पहली बार इस स्रोत का विस्तार के साथ विवेचन और उपयोग हुआ है। यही कारण है कि लेखक ने पुस्तक के शीर्षक के साथ अग्रिप्पा के नाम को सम्बन्धित किया है।

भारतीय प्रायद्वीप की पश्चिमी सीमा के प्रदेशो मे पाकिस्तान की पश्चिमी और

* एन अग्रीप्पन सोर्स ए स्टडी इन इण्डो-पार्थियन हिस्ट्री, लेखक—बी एन मुखर्जी, पिल्ग्रिम पब्लिशर्स कलकत्ता से १९६९ मे प्रकाशित, पृष्ठ ३४१, फलक ३, मूल्य ३५ ००।

पश्चिमोत्तर सीमाओ पर स्थित क्षेत्रो को भी सम्मिलित किया जा सकता है। इन क्षेत्रो का पश्चिमी भाग फारस के दक्षिण-पूर्वी भाग और अफगानिस्तान के दक्षिणी और पूर्वी भाग तक फैला है, इनके पूर्वी भाग मे सिन्धु नदी के पश्चिम मे स्थित सम्पूर्ण पाकिस्तान सम्मिलित है। प्राचीनकाल मे ऐसी भौगोलिक कल्पना ग्रीक लेखको की रचनाओ मे मिलती है। डियोडोरस सिक्युलुस (Diodorus Siculus) और स्ट्रबो (Strabo) ने सिन्धु नदी को भारत की पश्चिमी सीमा कहा है। टोलेमी (Ptolemy) के अनुसार इण्डिया इण्ट्रा गजेम (India Intra Gangem) की पश्चिमी सीमा परोपमीसडाई (Paropamisadai काबुल प्रदेश), अराकोसिआ (Arachosia कन्दहार) और जेड्रोसिआ (Gedrosia अराकोसिआ के दक्षिण मे स्थित) की पूर्वी सीमाओ से मिली हुई थी। प्लिनी का कथन है कि अधिकाश विद्वान सिन्धु नदी को भारत की पश्चिमी सीमा नही मानते, वरन् जेड्रोसी (Gedrosi) अराकोटे (Arachotae) अरई (Arii) और परोपनीसडे (Paropanisadae) को उसमे सम्मिलित मानते है। ये ग्रीक लेखक प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व से द्वितीय शताब्दी ईसवी के मध्य हुए थे। इस प्रकार वे असंसिड (Arsacid पार्थियन राजवश का यह नाम उसके प्रथम शासक के नाम पर है) वश के समकालीन थे, भारत की पश्चिमी-सीमा मे परिवर्तन सम्बन्धी उनके उल्लेख पार्थियन साम्राज्य की विभिन्न कालो मे स्थिति के सूचक है। इन उल्लेखो से प्रतीत होता है कि पार्थियन साम्राज्य पश्चिमी पाकिस्तान और पूर्वी और दक्षिणी अफगानिस्तान का अधिकाश भाग सम्मिलित था।

इस क्षेत्र मे पार्थियन साम्राज्य का इतिहास प्रस्तुत करने मे सबसे बडी बाधा प्रमाणो का अभाव है। जो कुछ भी प्रमाण प्राप्य हैं उनमे एक है मार्कुस विप्सानिउस अग्रिप्पा (Marcus Vipsanius Agrippa लगभग ६४-६३ ई० पू० से १२ ई० पू०) नामक एक उच्च रोमन अधिकारी के कथन। ये कथन कुछ ग्रीक लेखको द्वारा उद्धृत हुए हैं जिनमे प्रमुख है प्लिनी की रचना नाटुरलिस हिस्टोरिआ (Naturalis Historia), डिमेन्सुरसिओ प्रोविंसिआरुम (Dimonsuratio Provinciarum), और ओरोसिउस (Orosius) कृत हिस्टोरिआरुम अडवेर्सुम पगनोस लिब्री सप्तम (Historiarum Adversum Paganos Libri VII)। अग्रिप्पा के ये कथन प्लिनी द्वारा उल्लिखित उसकी परियोजना एव स्मृति-पत्र (Destinatio et commentarii) से लिये गये प्रतीत होते है। इनका आलेखन उसने एक विश्व-मानचित्र बनाने मे सहायक सामग्री के रूप मे किया था। प्लिनी एव अन्य लेखको के द्वारा उसके कथन का उपयोग अग्रिप्पा की प्रामाणिकता को सिद्ध करता है। प्लिनी ने तो उसे स्पष्ट ही अत्यधिक परिश्रमी व्यक्ति और अत्यन्त सावधान भूगोल-शास्त्रज्ञ कहा है। उसने ओगुस्टुस (Augustus) के साम्राज्य मे जनगणना के कार्य मे भाग लिया था, अतएव उसे जनसख्या एव भूगोल विषयक शोध के लिये सामग्री एकत्रित करने की प्रचलित विधियो का ज्ञान रहा होगा। रोमन प्रशासन के उच्च अधिकारी के रूप मे उसे प्रशासकीय प्रपत्र और महत्त्वपूर्ण मार्ग-निर्देशिकायें सुलभ थे। उसने लुगडुनुम (Lugdunum) से चार महत्त्व-पूर्ण मार्ग बनवाये थे। प्लिनी से ज्ञात होता है कि अग्रिप्पा के कुछ कथन स्पष्ट और निश्चित नही थे, किन्तु इससे उसकी रचना का महत्त्व कम नही होता।

अग्रिप्पा ओक्टवियस ओगुस्टुस (Octavius Augustus ई० पू० १४) का समकालीन था जिसके कार्यकाल मे रोम और पूर्व के देशो के बीच अभूतपूर्व व्यापारिक सम्बन्ध और उसके कारण पूर्वी देशो के विषय मे ज्ञान मे वृद्धि हुई थी। अग्रिप्पा स्वय दो बार पूर्व मे नियुक्त हुआ था। अतएव वह पूर्वी देशो के विषय मे, यथा रोमन और पार्थियन साम्राज्यो के परस्पर सम्बन्ध के बारे मे, अज्ञान नही था।

प्लिनी का कथन है कि अग्रिप्पा के अनुसार भारत ३३०० मील लम्बा और २३०० मील चौडा है। इससे प्रतीत होता है कि अग्रिप्पा ने उपलब्ध सामग्री के आधार पर भारत और समीपवर्ती देशो के भूगोल का अध्ययन किया था। अग्रिप्पा के विवरण नवीनतम सूचनाओ पर आधारित प्रतीत होते है। इससे उसके स्मृति-पत्र का महत्त्व स्पष्ट है। किन्तु यह दु खद है कि उसका स्मृति-पत्र और टिप्पणियाँ अनुपलब्ध हैं और हमे उनका शीर्षक भी ज्ञात नही है।

द्वितीय अध्याय मे अग्रिप्पा के प्रमाण का सविस्तार विवेचन है। प्लिनी का कथन है कि अग्रिप्पा भूमण्डल का सर्वेक्षण प्रस्तुत करना चाहता था। ओगुस्टुस सीजर ने भूमण्डल की रूपरेखायुक्त उस मण्डप को पूरा कराया जिसे उसकी बहन ने अग्रिप्पा की परियोजना और स्मृतिपत्र के आधार पर प्रारम्भ कराया था। सभवत मण्डप के पूर्ण होने के समय अग्रिप्पा जीवित नही था। सर्वेक्षण के पूरा होने और मण्डप-निर्माण के बीच कदाचित् अधिक अन्तर नहीं था और न एक मण्डप के निर्माण मे अधिक समय लगा होगा। अतएव अग्रिप्पा ने अपना कार्य सम्भवत जीवन के उत्तर भाग मे पूरा किया था। उसका जन्म ६४–६३ ई० पू० और मृत्यु १२ ई० पू० के लगभग हुई थी। सर्वेक्षण कार्य उसने पर्याप्त अनुभव के बाद ही किया होगा अतएव वह ४८ ई० पू० के कई वर्षों के बाद आरम्भ और १२ ई० पू० मे पूर्व समाप्त हुआ होगा। कदाचित् अग्रिप्पा ने सर्वेक्षण को मानचित्र के साथ भाष्य के रूप मे ही जोडा था किन्तु सम्प्रति दोनो मे से कोई भी उपलब्ध नही है।

प्लिनी द्वारा उद्धृत अग्रिप्पा के एक कथन के अनुसार मीडिया (Media), पार्थिया और पेर्सिडे (Persidae) की पूर्वी सीमा सिन्धु (नदी), पश्चिमी टाइगिस (नदी) (Tigris) उत्तरी टौरुस (Taurus) और काकेशस (Caucasus पर्वत) और दक्षिणी लाल सागर हैं और वे १३२० मील लम्बे और ८४० मील चौडे क्षेत्र मे फैले हैं। डिविजिओ ओर्बिस (Divisio Orbis) (लगभग ३६३ ई०) नामक रचना मे यही सूचना केवल काकेशस के नाम को छोडकर मिलती है। अतएव इसे अग्रिप्पा के सर्वेक्षण पर आधारित मानना उचित होगा। डिमेन्सुरसिओ प्रोविंसिआरुम (लगभग ३९३–४१७ ई०) नामक ग्रन्थ मे सीमा के निर्देश के लिये प्रयुक्त भौगोलिक नामो मे कुछ परिवर्तन है, किन्तु निर्दिष्ट क्षेत्र मे वस्तुत कोई अन्तर नही हुआ है। अतएव सभवत इस विवरण मे भी अग्रिप्पा के प्रमाण को ही स्वीकार किया गया था।

अग्रिप्पा के इस कथन का उपयोग अन्य लेखको ने भी किया था। ओरोसिउस की हिस्टोरिआरुम अडवेर्सुम पगनोस लिब्री सप्तम खण्ड (४१७–१८ ई०) मे विश्व का विवरण अग्रिप्पा के भूगोल पर आधारित द्वितीय शताब्दी की एक रचना से ही मुख्यत लिया गया

है। यहाँ भी विवरण की कुछ बातें अग्रिप्पा के कथन से भिन्न हैं, किन्तु निर्दिष्ट देश-समूह की सीमाओं में कोई अन्तर नहीं है। ओरोसिउस ने आगे कहा है कि इन प्रदेशों में ३२ जातियाँ हैं, यह (सम्पूर्ण क्षेत्र) साधारणतया पार्थिया कहलाता है, यद्यपि पवित्र शास्त्रों में पूरे क्षेत्र को प्राय मेडिया कहा गया है। ओरोसिउस के इस कथन का अग्रिप्पा से कोई विरोध नहीं है। अग्रिप्पा ने तीनों प्रदेशों के राजनीतिक, प्रशासकीय अथवा अन्य किसी सम्बन्ध से परस्पर जुड़ा होने के कारण उनकी सीमाओं को एक में दिया था, ओरोसिउस ने इसी सम्बन्ध को स्पष्ट कर दिया और पूरे क्षेत्र को पार्थिया कहा।

इस विचार का समर्थन सेविल्ल के इसीडोर (Isidore of Seville) की रचना से होता है। इसीडोर का कथन है कि "भारत की सीमा से मेसोपोटामिया तक का प्रदेश पार्थिया कहलाता है। पार्थियन लोगों की अजेय शक्ति के कारण असीरिया और समीपवर्ती प्रदेशों का नाम परिवर्तित होकर पार्थिया हो गया है। इस प्रकार इसमें अराकोसिआ, पार्थिया, असीरिया, मेडिया और पर्शिआ हैं जो एक में सगठित है और सिन्धु से टाइग्रिस तक फैले है। ...... वे अपनी निजी सीमाओं द्वारा बँटे हुए हैं ।" ओरोसिउस और इसीडोर के कथनों की तुलना से स्पष्ट है कि दोनों का स्रोत एक है। अतएव इसीडोर भी अन्तत अग्रिप्पा से ही प्रभावित था।

ओरोसिउस और इसीडोर के विवरणों से प्रतीत होता है कि अग्रिप्पा ने पार्थियन साम्राज्य की सीमाओं का उल्लेख किया है। किन्तु डिमेन्सुरसिओ प्रोविंसिआरुम और ओरोसिउस द्वारा उल्लिखित अरिआना (Ariana) और कर्मानिआ (Carmania) अग्रिप्पा के विवरण में भी थे—यह निश्चित नहीं है।

अग्रिप्पा की सामग्री के काल का निर्णय किया जा सकता है। उसने टाइग्रिस को पार्थियन साम्राज्य की सीमा बतलाया है। रोमन और पार्थियन साम्राज्यों के बीच सीमा-रेखा के महत्त्व और अग्रिप्पा के पद को देखते हुए अग्रिप्पा के इस उल्लेख को नवीनतम सूचना पर आधारित माना जा सकता है। सेलेउसिआ (Seleucia) से प्राप्त टेट्राड्राक्मों से ज्ञात होता है कि तिरिदात्स द्वितीय के विद्रोह के कारण केवल मई २६ ई० पू० और मार्च २५ ई० पू० में ही पार्थियन साम्राज्य की पश्चिमी सीमा टाइग्रिस तक थी, उससे पूर्व और बाद में भी मेसोपोटामिआ में सेलेउसिआ और दूसरे प्रदेश पार्थियन साम्राज्य के अंग थे। अतएव अग्रिप्पा की सूचना २६ अथवा २५ ई० पू० की थी।

अग्रिप्पा के अनुसार पार्थियन साम्राज्य की पूर्वी सीमा सिन्धु नदी तक फैली थी। अतएव सिन्धु के पश्चिम का कुछ भाग अवश्य ही इस साम्राज्य में सम्मिलित रहा होगा। पश्चिमोत्तर भारत में चारसदा (पेशावर जिला) और उसके उत्तर का प्रदेश इस काल में पार्थियन शासकों के अधिकार में थे, अपने सिक्कों से ये स्वतंत्र मालूम होते हैं। इसलिए पार्थियन साम्राज्य के भारतीय प्रदेश चारसदा के दक्षिण में निचली सिन्धु घाटी में रहे होंगे। इस क्षेत्र में किसी दूसरी शक्ति का अधिकार प्रमाणित नहीं होता, इससे अग्रिप्पा के विवरण की सत्यता सिद्ध होती है। रैप्सन और कुछ अन्य विद्वान सीस्तान के मार्ग से शकों का निचली सिन्धु घाटी में प्रवेश और वहाँ से माउएस (Maues) के नेतृत्व में

उत्तर की ओर प्रसार मानते हैं। किन्तु निचली सिन्धु घाटी से माउएस का सम्बन्ध प्रमाणित नही है, मुजमलुत तवारीख मे उल्लिखित सिन्धु प्रदेश के शासक अयन्द और रागल की पहचान अजेस प्रथम (Azes I) और अजिलिसेस (Azilises) से करने का कोई आधार नही है। अजेस प्रथम के वर्ग के शासको के काल के अन्त तक सिन्धु प्रदेश किसी शीथो-पार्थियन शासक के अधिकार मे नही आ सका था और न वहा इण्डो-ग्रीक प्रभुत्व के बने रहने की सभावना है।

तृतीय और चतुर्थ अध्यायो मे अग्रिप्पा के अतिरिक्त स्रोतो का विवेचन है।

मिथ्रिदातेस प्रथम (Mithridates I) के कुछ सिक्को के पूर्वभाग पर मुकुट और भीना-वस्त्र पहने श्मश्रुधारी पूर्वाभिमुख ऊर्ध्वशरीर है। पृष्ठभाग पर नग्न और श्मश्रुहीन वामाभिमुख हेराक्लेस (Herakles) सम्मुख खडा है, आधे उठे बायें हाथ मे उठा हुआ गदा और हाथ के पूर्वभाग मे सिंहचम है, बढे हुए दाहिने हाथ मे सुराचषक है। कुछ सिक्को पर तिथि १७३ और १७४ प्राप्त होती है जो ३११ ई०पू० मे प्रारम्भ होने वाले सेलेउसिड सम्वत की होने के कारण १३९-३८ और १३८-३७ ई०पू० होगी। उठा हुआ गदा और सिंहचर्म लिये हुए हेराक्लेस की खडी आकृति बक्ट्रिया के ग्रीक शासक इउथीडेमुस द्वितीय (Euthydemus II) और ज्वायलुस (Zoilus), डेमेट्रिउस प्रथम और लीसिअस (Lysias) और वोनोनेस और उससे सम्बन्धित शीथो-पार्थियन शासको के कई सिक्को पर हेराक्लेस की मुद्रा और उसके चिह्नो मे कुछ मामुली परिवर्तन के साथ है। वोनोनेस और उससे सम्बन्धित शासको के ऐसे सिक्के मुख्यत कन्दहार और गजनी से प्राप्त हुए हैं जो प्राचीन अराकोसिया मे आयेंगे। चरक्स (Charax) के इसीडोर की रचना स्टाथमोइ पार्थिकोइ (Stathmoi Parthikoi) से भी डेमेट्रिउस का अराकोसिया के साथ सम्बन्ध सिद्ध होता है, इस ग्रन्थ मे अराकोसिया की राजधानी अलेक्जेण्ड्रोपोलिस के निकट ही डेमिट्रिआस (Demetrias) नगर को स्थित बतलाया गया है। यह नगर कन्दहार के समीप था, इसका नाम डेमेट्रिउस के साथ सम्बन्ध का सूचक है। इन दोनो प्रमाणो के आधार पर मिथ्रिदातेस के सिक्को का अराकोसिया मे प्रचलन स्वीकार किया जा सकता है। अतएव अराकोसिया का कुछ भाग पार्थियन साम्राज्य के अन्तर्गत था।

मिथ्रिदातेस के इन सिक्को की तिथि (१३९/३८ और १३८/३७ ई०पू०) से पूर्व डेमेट्रिउस प्रथम और इउथीडेमुस द्वितीय का राज्यकाल था। अत सभव है कि पार्थियन सम्राट ने अराकोसिआ को बक्ट्रियन ग्रीक शासको से प्राप्त किया था।

ओरोसिउस के अनुसार आर्सकिस के वश के छठे शासक मिथ्रिदातेस ने डेमेट्रिउस के सेनापति को पराजित किया और तदुपरान्त बेबीलोन और उसकी सभी सीमाओ पर आक्रमण किया, इसके पश्चात् उसने हाइडास्पेस (Hydaspes) और इण्डस (सिन्धु) के बीच के प्रदेश मे रहने वाले सभी जनो को वश मे किया और अपने रक्तरजित राज्य को भारत तक फैलाया, उसने डेमेट्रिउस को द्वितीय युद्ध मे पराजित करके बन्दी किया। इस उल्लेख का मिथ्रिदातेस स्पष्ट ही पार्थियन सम्राट मिथ्रिदातेस प्रथम ही है। हाइडास्पेस की पहचान विद्वानो ने झेलम, मेडिया की हाइडास्पेस अथवा बलूचिस्तान मे स्थित पुरली से किया

है। किन्तु ओरोसिउस ने स्वय ही हाइडास्पेस और अर्बिस (Arbis पुरली) का पृथक् नदियो के रूप मे उल्लेख किया है और उनको सिन्धु के पश्चिम मे स्थित कहा है। अतएव हाइडास्पेस न तो झेलम है और न पुरली । कुछ भी हो ओरोसिउस की इण्डस नि सन्देह प्रसिद्ध सिन्धु है। उल्लेख से स्पष्ट है कि मिथ्रिदातेस का राज्य भारत की पश्चिमी-सीमा अर्थात् सिन्धु तक फैल गया था।

मिथ्रिदातेस की यह विजय डेमेट्रिउस के सेनापति की पराजय के बाद हुई थी जिसका काल ब्रिटिश म्यूजियम के एक फलक अभिलेख के अनुसार जून/जुलाई १४१ ई० पू० था। अतएव भारत की सीमा पर आक्रमण १४१ ई०पू० और मिथ्रिदातेस के राज्यकाल की अन्तिम ज्ञात तिथि १३८/३७ ई०पू० के बीच होगा।

विजित प्रदेश को सिन्धु की ऊपरी घाटी मे पेशावर या उसके उत्तर मे नही रखा जा सकता। यह क्षेत्र इस काल मे और उसके बाद भी इण्डो-ग्रीक शासको के अधिकार मे था। स्मिथ ने पश्चिमी पजाब को विजित प्रदेश सिद्ध करने के लिये हाइडास्पेस को झेलम बतलाया है और माउएस को पश्चिमी पजाब मे पार्थियन प्रान्तपाल कहा है। किन्तु यह दोनो ही तर्क निराधार हैं।

समुद्रपर्यन्त निचली सिन्धु घाटी पर पार्थियन अधिकार मानने मे कोई बाधा नही है। स्ट्राबो से ज्ञात होता है कि प्रारम्भिक इण्डो-ग्रीक शासक मेनाण्डेर और डेमेट्रिउस ने पातालेने, सराओस्टोस और सिगेरदिस पर अधिकार किया था, किन्तु अनुवर्ती इण्डो-ग्रीक शासको के अधिकार बने रहने का कोई प्रमाण नही है। डेमेट्रिउस का शासनकाल और मेनाण्डेर के शासनकाल का पूर्वभाग १४१ ई० पू० से पहले समाप्त हो गये थे, किसी दूसरी शक्ति के द्वारा इस प्रदेश के विजय की भी सभावना नही है। अतएव १४१ ई० पू० के बाद सिन्धु की पूर्वी शाखा के पश्चिम मे स्थित सिन्धु के मुहाने के प्रदेश पातालेने को पार्थियन लोगो ने इण्डो-ग्रीक लोगो से जीता था। इस सभावना मे कोई बाधा नही है, १३८ और १३७ ई०पू० के लगभग अराकोसिया पर पार्थियन अधिकार था जो बोलन और मूला दर्रों के द्वारा निचली सिन्धु घाटी से सम्बन्धित था।

चतुर्थ अध्याय मे कालकाचार्य कथानक का विवेचन है। यह जैन ग्रन्थो एव धार्मिक रचनाओ मे प्राप्य कथाचक्र है। उनमे से एक कथा कालकाचार्य और उज्जयिनी नरेश गर्दभिल्ल के कलह की है। विभिन्न सस्करणो से मूलकथा का यह रूप उभरता है—कालक धरावास के राजा वैरसिह का पुत्र था। वह जैन साधु बन कर उज्जयिनी गया जहाँ उसकी बहन सरस्वती भी एक जैन विहार मे रहती थी। उज्जयिनी नरेश गर्दभिल्ल ने उसके रूप से मोहित होकर उनका शील-भग किया। क्रुद्ध कालक नगर छोडकर अनवरत चलते हुए सगकूल पहुँचा। इसी को सिन्धु के दूसरे किनारे पर स्थित सगकूल अथवा सिन्धु का पश्चिम पारकूल अथवा पारसकूल भी कहा गया है। वह वहाँ के साहि के पास रहने लगा। साहि के अधिपति साहानुसाहि ने उसके और अन्य ९५ साहियों के वधार्थ दूत भेजा। कालक ने साहियों को हिन्दुकदेश जाने की मन्त्रणा दी। साहि सिन्धु को पारकर सुराष्ट्र पहुँचे। कुछ समय बाद वे उज्जयिनी पहुँचे। गर्दभिल्ल अधिकारच्युत हुआ और सरस्वती धर्म मे

पुन स्थापित हुई। कालक के आश्रयदाता साहि के आधिपत्य मे साहिविजिन प्रदेश पर शासन करने लगे। इस प्रकार सग अथवा शक वश की स्थापना हुई। शको का उन्मूलन विक्रमादित्य ने किया। उसने अपना सवत चलाया जिसके १३५ वर्ष मे एक दूसरे शक नरेश ने विक्रम के वश का अन्त करके अपना सवत् चलाया।

कथा के अज्ञातदीर्घ सस्करण की सबसे प्राचीन हस्तलिखित प्रति १३३५ विक्रम सम्वत् (१२७७/७८ अथवा १२७८/७९ ई०) की है। एक वर्ष बाद की इसकी प्रतिलिपि मे अनेक अशुद्धियाँ हैं जिनसे सूचित होता है कि मूल प्रति पर्याप्त प्राचीन है। १३वी शताब्दी के मध्य मे भावदेव सूरि ने कथा का सक्षिप्त सस्करण प्रस्तुत किया जो जैनियो मे कथा की प्रसिद्धि की परिचायक है। यदि कथा के धारावास का वैरसिह धारा के परमार वश का कोई वैरसिह था तो कथा का पूर्ण विकास वैरसिह प्रथम के शासन-काल (नवी शताब्दी का द्वितीय चरण) से पूर्व नही रखा जा सकता। कथा मे हिंदुकदेश नाम भी कथा के उत्तरकालीन होने का सूचक है। हिन्दुकदेश को सिन्धु के पूर्व मे स्थित कहा गया है। अतएव यह पूर्वकालीन उल्लेखो का सिन्धुक नही हो सकता जो सिन्धु के पश्चिम मे था। हिन्दुकदेश पूर्वमध्यकालीन मुस्लिम विवरणो के हिन्द नाम के निकट है जो सिन्धु के पूर्व के भारत अथवा उसके भाग का द्योतक था।

कुछ तत्वो से सूचित होता है कि कथा मे कुछ अश अति-प्राचीन है। कालक का नाम जैन परम्परा मे प्रसिद्ध है। जैन विद्वान कालक नामक जैन साधु को वीर सम्वत् के ४५३ वें वर्ष मे रखते है। अन्य प्रमाणो के अनुसार इसी वर्ष कालक ने सरस्वती को प्राप्त किया और गर्दभिल्ल के उच्छेदक कालकाचार्य को सूरि की उपाधि प्रदान की गई। वीर सम्वत के आरम्भ होने की तिथि विवादास्पद है फिर भी इसके ४५३ वें वर्ष को कोई भी प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व के पश्चात् नही रखता।

कथानक के एक अश का समर्थन टोलेमी द्वारा होता है। कथा के अनुसार सगकूल के साहियो ने सिन्धु को पार कर सुराष्ट्र मे प्रवेश किया था। इस विवरण के अनुसार सगकूल सिन्ध प्रान्त का वह समुद्रतटीय भाग था जो सिन्धु नदी की सबसे पूर्वी शाखा के पश्चिम मे स्थित था। इसी को ग्रीक लेखको ने पटालेने कहा है। इस प्रकार जैन परम्परा के अनुसार शको का अधिकार पटालेने और सुराष्ट्र पर हुआ था। टोलेमी ने पटालेने, सिराष्ट्रेने और अबेरिआ अथवा सबीरिआ को इण्डोसीथिआ के प्रान्त कहा है। टोलेमी के ग्रन्थ की रचना दूसरी शताब्दी ईसवी के दूसरे या तीसरे चरण मे हुई थी। अतएव पटालेने और सिराष्ट्रेने पर सीथियन अधिकार इससे कई शताब्दियो पूर्व हुआ होगा। कथा के अनुसार भी ये प्रदेश कालक के समय (प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व) मे शको के अधिकार मे पहली बार आये थे। सीथियन और शक एक ही हैं। इस प्रकार प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व मे सगकूल (अथवा पटालेने) और सुराष्ट्र पर शको की विजय की बात प्रामाणिक प्रतीत होती है।

कथानक मे सुराष्ट्र मे आने से पूर्व शक सगकूल मे बसे थे। दो सस्करणो मे सगकूल के स्थान पर पारसकूल नाम मिलता है। किन्तु इसमे कोई विरोध नही है यदि शको का

स्वामी कोई ईरानी सम्राट था। यह सम्भावित है, निचली सिन्धु घाटी पर शको ने पार्थियन सम्राटो के समय मे अधिकार किया था। शक साहियो के स्वामी का साहानुसाहि नाम पार्थियन सम्राटो के सिक्के पर उनके विरुद 'बसिलेग्रोस वसिलेग्रोन' का ईरानी रूप प्रतीत होता है।

कथानक के दीर्घ अज्ञात सस्करण के अनुसार उज्जयिनी मे शको के सत्ताच्युत होने पर विक्रम सम्वत् की स्थापना हुई थी। अतएव पार्थियन आधिपत्य मे सगकुल की स्थापना प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व के पूर्वार्द्ध मे होनी चाहिए। किन्तु यह ग्राह्य नही है। ५८ ई० पू० के सम्वत् के प्रारम्भिक उदाहरण उज्जयिनी क्षेत्र से नही है और न उनमे विक्रम का सम्बन्ध मिलता है। प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व मे उज्जयिनी पर शक अधिकार की बात भी अन्य प्रमाणो से सिद्ध नही होती। पट्टावलियो, मेरुतु ग की थेरावली आदि जैन ग्रन्थो मे उज्जयिनी मे शक राज्य को विक्रम सम्वत् की स्थापना से पूर्व रखा गया है। किन्तु इन्ही स्रोतो मे नभोवाहन और गर्दभिल्ल को शको से पूर्व रखा गया है। निश्चय ही नभोवाहन अथवा नहवाहण ही नहपान है। नहपान प्रथम शताब्दी ईसवी से पूर्व का नही हो सकता। अतएव इन स्रोतो को प्रामाणिक नही कहा जा सकता और उनके आधार पर उज्जयिनी पर प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व मे शक अधिकार की बात स्वीकार नही की जा सकती।

कालकाचार्य कथानक के आधार पर हम सिन्धु के निचले भाग के पश्चिमी तट पर शक आवास, उस क्षेत्र पर पार्थियन लोगो का आधिपत्य और सुराष्ट्र मे शको के प्रवेश को ऐतिहासिक मान सकते हैं। इन घटनाओ के साथ कालक का सम्बन्ध विवादास्पद है। कालान्तर मे कथानक का स्वरूप परिवर्तित और वर्धित हुआ और उत्तरकालीन पात्र यथा वैरसिंह उसमे प्रविष्ट किये गये।

सिन्धु के समीप के प्रदेशो मे आर्मसिड लोगो के आगमन का उल्लेख रवेन्ना (Ravenna) के एक अज्ञात लेखक की कृति कोस्मोग्राफिआ (Cosmographia) मे मिलता है। इस ग्रन्थ का सकलन ७ वी अथवा ८ वी सदी के पूर्वार्द्ध मे हुआ था, किन्तु इसमे कई पूर्वकालीन सामग्रियो का समावेश है। इसमे पार्थियन साम्राज्य के भी कुछ वर्णन हैं जो २२७ ई० के लगभग उसके पतन के पूर्वकालीन होगे। एक उल्लेख है कि सेरिका-इण्डिया से मिला हुआ पार्थिया नाम का देश है जिसके अन्तर्गत कोरास्मिआ (Chorasmia) सोक्दिआना (Socdiana) साबीर (Sabeer) परपनिमिडिआ (Parapanisidia) आरिआना (Ariana), सत्रैदिआ (Satraidia) और अराकोसिआ के प्रान्त है। ग्रन्थ के उल्लेखो से (यथा, जहा हिरकानिआ की खाडी को पार्थिया के उत्तर मे स्थित कहा गया है) स्पष्ट है कि पार्थिया से पार्थियन साम्राज्य का निर्देश है, इण्डो पार्थियन साम्राज्य का नही, यद्यपि प्रान्तो की सूची पूर्ण नही है। पार्थिया विषयक उल्लेखो मे परस्पर विरोध भी मिलता है जिससे ये विभिन्न काल के प्रतीत होते हैं। पार्थियन साम्राज्य के विस्तार का प्रस्तुत उल्लेख किस काल का है यह निर्णय करना कठिन है। किन्तु स्पष्ट है कि ये प्रान्त एक ही समय अथवा भिन्न-भिन्न अवसरो पर पार्थियन साम्राज्य के अन्तर्गत थे। इनमे से परोपनिसदै के अन्तर्गत काबुल घाटी अथवा उसका ऊपरी भाग आता है। अराकोसिआ मे कन्दहार और गजनी के

प्रदेश सम्मिलित थे। सर्त्रैदिग्रा वलूचिस्तान अथवा उसके समीप स्थित था। सवीर कदाचित सोवीर अथवा सौवीर है जो सिन्धु के पूर्व मे सिन्धु घाटी का निचला भाग था।

ग्रन्थ मे अन्यत्र कहा गया है कि सिन्धु पार्थिया और भारत के बीच बहती है। सभवत सवीर और सिन्धु नदी सम्बन्धी उल्लेख अलग-अलग कालो के हैं। कुछ दूसरे ग्रन्थ भी सिन्धु को पार्थियन साम्राज्य की सीमा मानते है किन्तु कोस्मोगाफिआ की भांति इनकी भी तिथि अनिश्चित है। इन प्रमाणो को कालकाचार्य कथानक और मिथ्रिदातेस प्रथम की पूर्वी क्षेत्र मे गतिविधि से सम्बन्धित प्रमाणो के साथ देखने पर सिन्धु के निकट आर्संसिड लोगों की सभावना होती है और अग्रिप्पा के द्वारा सिन्धु तक पार्थियन साम्राज्य के विस्तार के उल्लेख का समर्थन होता है।

पाँचवें अध्याय मे सभी प्रमाणो की सहायता से भारतीय सीमा मे आर्संसिड लोगो का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। इसका आरम्भ मिथ्रिदातेस प्रथम (लगभग १७४-१३८/३७ ई०पू०) के राज्यकाल मे हुआ था।

पार्थियन प्रसार का एक स्पष्ट कारण राजनीतिक था। पार्थियन का ग्रीक लोगो से घोर वैर था। अतएव भारत मे भी ग्रीक साम्राज्य की विजय की उनकी लालसा स्वाभाविक ही थी। इनमे आर्थिक लाभ की सभावनाएँ सहायक हुई होगी। पार्थियन साम्राज्य से बहुत पहले दारिउस प्रथम ने अरब सागर तक पहुँचने के उद्देश्य से भारत की विजय की थी। पार्थियन काल तक समुद्र और समुद्री मार्गों के ज्ञान मे और भी विकास हुआ। अगाथार्चिडेस (Agatharchides) के विवरण और नेआर्कुस (Nearchus) की यात्रा से ज्ञात होता है कि निचली सिन्धु घाटी से हरमोजेइआ (Harmozeia) अथवा ओर्मुज (Ormuz) तक और वहा से फारस की खाडी होते हुए टाइग्रिस नदी के रास्ते सेलेउसिआ (Seleucia) तक का समुद्री-मार्ग प्रचलित था। निचली सिन्धु घाटी और सेलेउसिआ के बीच स्थल मार्ग भी था। प्लिनी के उल्लेख से ज्ञात होता है कि पाटल से कस्पिअन गेट्स तक मार्ग था। यह मार्ग सभवत बोलन और मूला दर्रों से होता हुआ अराकोसिआई (Arachosii) तक जाता था जो मध्य एशिया के प्रसिद्ध व्यापारी मार्ग से सम्बन्धित था। सिकन्दर के समय मे पाटल से बेबीलोन तक का जो स्थल-मार्ग था सभवत वही पार्थियन काल मे सेलेउसिआ तक बढा दिया गया था। चाग च'इएन के विवरण से जो १३०/१२९ ई०पू० के लगभग की घटनाओं से सम्बन्धित है, सूचित होता है कि निचली सिन्धु घाटी का इस अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे सम्पर्क बना रहा। उससे ता-हिआ (उत्तर-पूर्वी अफगानिस्तान) मे वहा के व्यापारियो द्वारा शेन-तू (निचली सिन्धु घाटी) मे खरीदे गए शु प्रान्त के बने कपडो को देखा था। चाग च'इएन से ही ज्ञात होता है कि अन-ही (आर्संसिड) साम्राज्य के व्यापारी व्यापार के लिए दूर-दूर तक यात्रा करते थे। अन्य प्रमाणो से भी स्पष्ट है कि आर्संसिड लोगो को आरम्भ से ही इस व्यापार का महत्त्व ज्ञात था। सेलेउसिआ की टकसाल मे १७५-१५० ई०पू० मे बने सिक्को की अत्यधिक सख्या से व्यापार की वृद्धि का सकेत मिलता है। अतएव जब मिथ्रिदातेस प्रथम ने १४१ ई०पू० मे सेलेउसिआ की विजय की तो उसे इस अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्धित अन्य क्षेत्रो का महत्त्व और भी स्पष्ट हो गया होगा।

भारत के सीमावर्ती क्षेत्रो पर आक्रमण के लिये मिथ्रिदातेस ने क्या मार्ग अपनाया इसका कोई उल्लेख नही मिलता है। कुछ प्रमाणो से यह सभावना होती है कि कदाचित् मिथ्रिदातेस ने वैक्ट्रिया से होते हुये हिन्दुकुश के मार्ग से आक्रमण किया था। किन्तु सूक्ष्म विवेचन पर यह सभावना ढह जाती है। जस्टिन के अनुसार मिथ्रिदातेस ने अनेक जातियो के प्रदेशो को पार्थियन साम्राज्य मे जोडा था जो उसके समय मे कौकासुस (Caucasus) पर्वत से इउफ्राटेस नदी तक फैला था। यदि कौकासुस को हिन्दुकुश माना जाय तो कहा जा सकता है कि मिथ्रिदातेस वक्ट्रिया की विजय करता हुआ हिन्दुकुश पहुचता था। किन्तु कौकासुस की हिन्दुकुश के साथ पहचान ही निश्चित नही है। दूसरा प्रमाण स्ट्रावो का है। स्ट्रावो से ज्ञात होता है कि पार्थियन लोगो ने इउक्रटिडेस से वक्ट्रिआना के अस्पिओनुस (Aspionus) और तुरिवा (Turiva) प्रान्तो (Satrapies) की विजय की थी। यहाँ इउक्रटिडेस प्रथम का ही उल्लेख है जो जस्टिन के अनुसार मिथ्रिदातेस प्रथम का समकालीन था। इस प्रकार यह सभावना होती है कि मिथ्रिदातेस प्रथम ने इउक्रटिडेस प्रथम से वक्ट्रिया के कुछ प्रान्त छीने थे। किन्तु स्ट्रावो के उल्लेख से प्रतीत होता है कि ये प्रान्त वक्ट्रिअन ग्रीको के राज्य मे तो थे किन्तु वक्ट्रिया देश मे स्थित नही थे। यदि टार्न द्वारा इन प्रान्तो के नाम की पाठ- शुद्धि और उनकी पहचान स्वीकार की जाय तो ये प्रात वक्ट्रिया देश से वाहर उसके पश्चिम और दक्षिण मे मेर्व और हेरात के समीप स्थित थे। अतएव मिथ्रिदातेस के द्वारा वक्ट्रिया की विजय की वात तो सिद्ध नही होती किन्तु यह सम्भावना होती है कि उसने हेरात और सीस्तान को अराकोसिया से जोडने वाले मार्ग का अनुसरण किया था। फिर भी हेरात और सीस्तान पर उसका अधिकार सिद्ध नही होता।

मिथ्रिदातेस ने ग्रीक लोगो से सम्भवत अराकोसिया का कुछ भाग और पटालेने सहित निचली सिन्धु घाटी का एक भाग जीत लिया था। यह मूला अथवा वोलन दर्रे से होकर निचली सिन्धु घाटी पहुँचा होगा। किन्तु भारत मे उसके राज्य का विस्तार निश्चित नही है। यह ज्ञात नही है कि उसने सिगेरदिस (Sigerdis) और सराओस्टोस (Saraostos) सहित ग्रीको के सभी समुद्रतटीय प्रदेशो पर अधिकार कर लिया था। टार्न ने ओरोसिउस के एक उल्लेख मे हाइडास्पेस को दक्षिणी वलूचिस्तान की पुरली नदी मानकर जेड्रोसिआ पर भी उसका शासन कहा है। किन्तु हाइडास्पेस और पुरली की पहचान सदिग्ध है।

निचली सिन्धु घाटी पर पार्थियन अधिकार अधिक समय तक नही वना रहा। शिहचिह नामक ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि चाँग च'इएन ने ११६ ई० पू० के लगभग ता-यूएह-चिह, ता-हिआई, आन ही, शेन-तू (जिसमे निचली सिन्धु घाटी का कुछ भाग आता था) आदि को दूत भेजे थे। शिह चिह और च'इएन हान-शू के अनुसार इसके दो वर्ष वाद भी आन-ही, शेन-तू को दूत भेजे गये। इन दोनो उल्लेखो मे आन-ही और शेन-तू की पृथक् राजनीतिक सत्ता है। किन्तु किन शक्तियो ने निचली सिन्धु घाटी से आर्मसिड अधिकार को समाप्त किया यह ज्ञात नही हे।

सम्भवत इण्डो-ग्रीक लोगो ने आर्समिड लोगो से अराकोसिआ छीन लिया था। मुद्राशास्त्रीय प्रमाणो के आधार पर इस विजय का श्रेय ज्वाइलुस प्रथम को मिलना चाहिये। मिथ्रिदातेस प्रथम का "नग्न और श्रुहीन खडे हेराक्लेस" प्रकार अराकोसिआ पर उसकी विजय का सूचक है और इण्डो-ग्रीक शासक लीसिअस (Lysias) और ज्वाइलुस ने इसे अपनाया था। ज्वाइलुस के कुछ सिक्को पर निके (विजय) हेराक्लेस के बाये कन्धे पर खडी होकर उसे पुष्पमाला पहनाते हुए अंकित है। हेराक्लेस की आकृति वाले सिक्के अराकोसिया मे प्रचलित थे। अतएव यह प्रकार भी अराकोसिया पर विजय का सूचक है। इसी तरह ज्वाइलुस के तांबे के सिक्को के पूर्वभाग पर हेराक्लेस का सिर और पृष्ठ भाग पर सिरपेचे की लता की माला मे घिरा गदा और खोल मे धनुष है। खोल मे धनुष विशिष्ट पार्थियन विधि है जिसको इण्डो-ग्रीक राजाओ मे केवल ज्वाइलुस प्रथम ने अपनाया। यह भी ज्वाइलुस की आर्सेसिड लोगो पर विजय का प्रमाण है। ज्वाइलुस की प्रस्तावित तिथियो के आधार पर उसकी इस असफलता को मिथ्रिदातेस प्रथम की अराकोसिआ विजय (१३६/३८ ई० पू०) और मिथ्रिदातेस द्वितिय के शासनकाल (१२३-८८/८७ ई० पू० के बीच रखा जा सकता है।

भारत मे आर्सेसिड अधिकार को क्षीण करने मे सीथियन (शको) के आक्रमण सहायक हुए होगे। स्ट्राबो का कथन है कि [सीथियन] खानाबदोशो मे सर्वाधिक प्रसिद्ध वे हैं जिन्होने ग्रीक लोगो से बक्ट्रिआना छीना अर्थात् असिओआई [Asioi] तोखारोआई [Tokharoi] और सकारोलोआई [Sakarauloi] जो मूलत इअक्जार्टेस [Iaxartes] के दूसरी ओर स्थित देश से आये थे जो सकाई [Sakai] और सोगदिआनोआई [Sogdiani] के देश के समीपस्थ था और शकाई लोगो के अधिकार मे था। लेकिन स्ट्राबो से यह स्पष्ट नही होता कि इन नाना बदोशो ने संयुक्त अथवा पृथक् आक्रमण किये थे। इनमे से तोखारोआई को यूह-चिन्ह लोगो से सम्बन्धित किया गया है। चांग च' इ एन के विवरण से ज्ञात होता है कि यूएह-चिह लोगो ने १३०/२९ ई० पू० तक ता-हिआ [बक्ट्रिआ का पूर्वी भाग] पर अधिकार कर लिया था। अन्य सीथियन खानाबदोशो के द्वारा पश्चिमी बक्ट्रिया मे स्थित बक्ट्रा [Bactra] नगर पर आक्रमण का उल्लेख ट्रोगुस [Trogus] ने किया है। उसके अनुसार बक्ट्रियन लोगो के शासनकल मे ही सीथियन लोगो ने, सरौके [Saraucae] और असिआनी [Asiani] ने बक्ट्रा और स्तेगडिआना पर अधिकार किया था। असिओआई और असिआनी एक ही हैं (मूलरूह असि] अतएव स्ट्राबो और ट्रोगुस दोनो ने सम्भवत एक ही घटनाचक्र का उल्लेख किया है। पार्थियन प्रदेश मे सीथियन लोगो का १३० ई० पू० के लगभग प्रवेश और पूर्वी बक्ट्रिया पर १३०/१२९ ई० पू० के लगभग उनका अधिकार देखते हुए इसी तिथि के लगभग बीच मे स्थित पश्चिमी बक्ट्रिया पर इनका अधिकार सम्भावित है। चांग चाउएन के विवरण मे यउ-सईअओ [बक्ट्रिया का पश्चिमी भाग] का कोई उल्लेख नही है किन्तु आन-ही और ता-हिआ का विस्तृत वर्णन है। इससे १३०/२९ ई० पू० के लगभग बक्ट्रिआ के क्षीण राजनीतिक अधिकार का आभास होता है। मिथ्रिदातेस प्रथम के अनुवर्ती शासक शासक फ्रातेस [Phraates] द्वितीय

(१३८/३७-१२८ ई० पू०) के काल में सीथियन लोग पार्थिया की पूर्वी सीमाओं पर विध्वंस करने लगे थे। फ्रातेस उनके साथ संघर्ष में मारा गया। उन आक्रमणों के कारण अशक्त आर्सेसिड लोगों के हाथों में भारत में उनके अधिकृत प्रदेश स्वतन्त्र हो गये और वे उनकी पुनर्विजय नहीं कर सके।

किन्तु ११६ ई० पू० के लगभग चांग च'इएन ने आन-ही में प्रथम चीनी राजदूत भेजा जिसका आन-ही की पूर्वी सीमा पर एक पार्थियन सेनापति ने भव्य स्वागत किया। इससे प्रतीत होता है कि सीथियन लोगों द्वारा की गई अशान्ति इस समय तक समाप्त हो गई थी। स्ट्राबो (ग्रन्थ की रचना ७ ई० पू० के लगभग और संशोधन १८ ई० के लगभग हुआ था) का कथन है कि पार्थियन लोगों ने सीथियन को परास्त कर बक्ट्रिआना के एक भाग पर अधिकार किया था। स्ट्राबो से पूर्व पार्थियन सम्राटों में मिथ्रिदातेस द्वितीय को ही सीथियन लोगों के विरुद्ध सफलता प्राप्त हुई थी। ट्रोगुस के आधार पर जस्टिन ने भी मिथ्रिदातेस द्वितीय को सीथियन लोगों को पराजित करने और पार्थियन साम्राज्य में नये प्रान्तों को जोड़ने का श्रेय दिया है। सीथियन लोगों से जीते गये प्रान्तों में पश्चिमी बक्ट्रिया भी था जिसकी विजय ११९ ई० पू० के लगभग सम्पादित हो गई थी। किन्तु मिथ्रिदातेस द्वितीय को मेर्व, हेरात, सीस्तान और भारतीय सीमावर्ती प्रदेशों में कितनी सफलता मिली इसका निर्णय करना कठिन है।

मुद्राशास्त्रीय प्रमाण से पार्थियन लोगों के द्वारा ग्रीक राज्य के अन्त करने की तिथि का संकेत होता है। अफगानिस्तान के कटघान प्रान्त में कुन्दुज स्थान से प्राप्त मुद्रा-भाण्ड के सभी ग्रीको-बक्ट्रियन और इण्डो-ग्रीक सिक्कों पर ग्रीक लेख हैं और वे ऐट्टिक नाम पर बने हैं जिससे उनका हिन्दुकुश के उत्तर के प्रदेश में प्रचलनार्थ बनना सूचित होता है। जिन शासकों के सिक्के इस भाण्ड में मिले हैं उनमें से ११ प्लाटो (Plato), इउक्रटिडेस द्वितीय, डेमेट्रिउस द्वितीय, हेलिओक्लेस (Heliocles) लीसिअस, थिओफिलुस (Theophilus), अण्टिआलकिडस (Antialcidas), अमिण्टास (Amyntas), आर्केबिउस (Archebius) फिलोक्सेनुस (Philoxenus) और हेर्मेउस को इउक्रटिडेस प्रथम के पश्चात् रखा जा सकता है। जस्टिन से ज्ञात होता है कि इउक्रटिडेस प्रथम मिथ्रिदातेस (प्रथम) (१७१-१३८/३७ ई० पू०) का समवर्ती था। अतएव इन ११ शासकों में से कुछ को परस्पर समवर्ती मानकर भी हम इनमें से अन्तिम का समय लगभग १०० ई० पू० से बहुत पहले नहीं रख सकते। साथ ही बक्ट्रिआ में ११६ ई० पू० (जब आर्सेसिड ने पश्चिमी बक्ट्रिया की विजय की) के बाद अधिक समय तक उनके बने रहने की सम्भावना नहीं होती क्योंकि वे पार्थियन साम्राज्य और ता-हिआ के यूएह-चिह के बीच पिसे हुए थे।

इस सम्बन्ध में हर्मेउस का राज्यकाल अधिक निश्चयात्मक हो सकता है। प्राचीन परोपमिसडे (हिन्दुकुश के दक्षिण-पूर्व में, मुख्यतः काबुल घाटी) से हेर्मेउस के नाम वाले भद्दी बनावट वाले कई सिक्के मिले हैं जिनमें Sot eros के स्थान पर Sterossy लेख है। ये सिक्के हेर्मेउस के सिक्कों की नकल हैं। अशुद्धि से प्रतीत होता है कि यह नकल उस समय की है जब इन क्षेत्रों से ग्रीक-शासन का अन्त हो गया था। अतएव परोपमिसडे में

ग्रीक शासन का अन्त हेर्मेउस के राज्यकाल के बाद हुआ था। यदि हेर्मेउस के शासन का आरम्भ ११९ ई० पू० से कुछ पहले रखा जाय तो उसके अल्पकालीन शासन को ध्यान मे रखकर यह कह सकते हैं कि पहली शताब्दी ईसा पूर्व के प्रथम चरण के बाद उसका अधिकार नही बना रहा।

यद्यपि भारत के सीमावर्ती प्रदेशो मे कुछ सीथो-पार्थियन कुल प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व मे उपस्थित थे, उनमे से किसी का भी (बोनोनेस, माउएस, अज़ेस प्रथम अथवा उनसे सम्बन्धित शासक) ऊपरी काबुल घाटी पर के अन्त होने और यूएह्-चिह् के आगमन से पूर्व वहाँ आर्ससिड लोगो का अधिकार था। इस क्षेत्र मे प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व मे अन्य किसी शक्ति की उपस्थिति का प्रमाण न मिलने से हम आर्ससिड को ग्रीको के तुरन्त बाद रख सकते हैं। इसका समर्थन जस्टिन के एक कथन से होता है। जस्टिन के अनुसार बक्ट्रि-अन (बक्ट्रिअन ग्रीक) निरन्तर युद्धो मे इतने थक गये थे कि शक्तिहीन की भाँति अपने से कमजोर पार्थियन लोगो के द्वारा पराजित हुए किन्तु स्ट्रावो ने ग्रीक लोगो से बक्ट्रिआ छीनने का श्रेय सीथियन खानाबदोशो को दिया है। अतएव जस्टिन का कथन बक्ट्रिआ के बाहर अन्तिम बक्ट्रिअन ग्रीक शासक की पराजय के विषय मे है। ये सारी विशेषताएँ हेर्मेउस के लिए चरितार्थ होती हैं। अधिकार प्रमाणित नही होता। इसके विपरीत स्ट्रावो से इस क्षेत्र के कुछ भाग पर पार्थियन सम्राटो का अधिकार ज्ञात होता है। उसके अनुसार भारत की सीमा पर स्थित क्षेत्रो के समीप चारेने स्थित था जो पार्थियनो के अधीन प्रदेशो मे से भारत के सबसे निकट था। उल्लेख के सन्दर्भ को देखने से स्पष्ट है कि यहाँ परोप-मिसडे का ही निर्देश है। स्ट्रवो ने अपने ग्रन्थ की रचना ७ई पू मे और सशोधन १८ ई० मे किया था। अतएव इनमे से किसी एक तिथि से पूर्व परोपमिमडे तक आर्ससिड अधिकार फैल चुका था। कोस्मोग्राफिआ के अज्ञात लेखक ने भी (यद्यपि उसका काल अज्ञात है) परपनिसिडिआ को पार्थिया के अन्तर्गत रखा है। काबुल प्रदेश पर आर्ससिड शासन हाऊ हान-शू से भी सिद्ध होता है। इसका कथन है कि अन्त मे काओ-फू (काबुल) आन-ही के अधिकार मे था और यूएह्-चिह् आन-ही को पराजित करके ही इसे प्राप्त कर सके थे। इस उल्लेख मे आन-ही आर्ससिड साम्राज्य के लिये ही प्रयुक्त हुआ है।

परोपमिसडे पर ग्रीक शासन प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व के प्रथम चरण के लगभग समाप्त हो गया था। इस प्रदेश के कुछ भाग को यूएह्-चिह् ने आर्मसिड से जीता था। अतएव ग्रीक शासन हाउ हान-शू मे उल्लिखित काओ-फू की व्यापारिक समृद्धि आर्ससिड आक्रमण का कारण थी यह निश्चित नही है। परोपमिसडे पर अधिकार ग्रीक शक्ति के लिये घातक होगा यह अवश्य आर्ससिड लोगो को स्पष्ट रहा होगा।

काबुल घाटी पर आर्समिड अधिकार का सकेत मुद्रा शास्त्रीय प्रमाण से भी होता है। ऊपरी काबुल घाटी मे बेग्राम मे उत्खनन सेआर्ससिड शासक ओरोडेस (Orodes) द्वितीय के पाँच सिक्के अथवा उनके अनुकरण और फ्राटेस चतुर्थ का एक सिक्का मिला है, इनके पूर्व भाग पर उर्ध्वशरीर पुनरकित किया गया है। अफगान व्यापारियो से सिनाट्रुसेज (Sinatruces), फ्राटेस तृतीय और चतुर्थ के सिक्के और अन्तिम दोनो के सिक्को के अनु-

करण भी इस प्रकार पुनरंकित किये गये प्राप्त होते है। सिमोनेट्टा (Simonetta)ने इनको एरिया (Aria) का माना है। किन्तु बेग्राम के प्रमाण के आधार-पर इन्हे काबुल घाटी का ही मानना चाहिये। इसके समर्थन मे यह कहा जा सकता है कि इनमे से कुछ अनुकरण वाले सिक्के हिन्दुकुश के दक्षिण मे प्रचलित इण्डो-ग्रीक तौल पर आधारित है। ये सभी सिक्के आर्सेसिड शासको के है। पुनरंकित ऊर्ध्वशरीर मूल ऊर्ध्वशरीर को बिगाडता नही, सभवत पुनरकन करने वाले आर्सेसिड शासको के शत्रु नही थे, कदाचित ये उनके सामन्त थे और अपने क्षेत्र मे प्रचलित उनके सिक्को को पुनरंकित करते थे। मूल सिक्को के अभाव मे ये स्थानीय सिक्को को ही (जिन्हे अनुकरण वाले सिक्के कहा गया है) पुनरंकित करके चलाते थे। कोई सामन्त अपने अधिपति के ही सिक्को को पुनरंकित करेगा उसके वश के किसी पूर्व-वर्ती शासक के सिक्को को नही, इस तर्क पर काबुल घाटी पर सिनाद्रुसेस (76/75–70/69 ई० पू०) से फ्राटेस चतुर्थ (38-2 ई० पू०) के काल तक आर्सेसिड लोगो के अधिकार की सभावना होती है। किन्तु इतनी कम सख्या मे उपलब्ध सिक्के व्यापार या दूसरे कारणो से भी आ सकते है, अतएव यह प्रमाण स्वयमेव प्रबल नही है।

अराकोसिया पर आर्सेसिड अधिकार अर्सकिस थेओस (Arsakes Theos) के सिक्कों से सिद्ध होता है। इन तांबे के सिक्को के पूर्वभाग पर उछलता हुआ घोडा और ग्रीक अक्षरो मे अर्साकु बसिलेओस थेऊ (Arsakou Basileos Theou) और पृष्ठ भाग पर ही केन्द्र वाले दो वर्गों के बीच चर्खी और गोली की किनारी से घिरा हुआ खोल मे प्रत्यचा चढा धनुष है। अर्साकु अथवा अर्सकिस नाम से ही इनका आर्सेसिड सम्बन्ध स्पष्ट है। उछलता घोडा और खोल मे प्रत्यचा चढा धनुष दोनो प्रकारो को आर्सेसिड वश के मिथ्रिदातेस प्रथम और द्वितीय, सिनाद्रुसेस, फ्राटेस तृतीय और ओरोडेस द्वितीय के अतिरिक्त केवल माउएस ने ही अपनाया था। मिथ्रिदातेस प्रथम और सिनाद्रुसेस के शासन के प्रारभिक वर्ष माउएस से पहले के हैं। अतएव इन सिक्को की आर्सेसिड उत्पत्ति स्वीकार की जा सकती है। इन सिक्को पर खरोष्ठी लेख का अभाव इनको सीथो पार्थियन शासको के सिक्को से पृथक् करता है, किंतु इनका वर्गाकार सीथो-पार्थियन के द्वारा भारत में अपनाया गया था। दोनो ही विशेषताओं का सामजस्य यह कह कर किया जा सकता है कि इन सिक्को को आर्सेसिड शासको ने भारत मे प्रचलनार्थ बनाया था। इन सिक्को पर घसीट के अक्षर आर्सेसिड वश के वोनोनेस प्रथम के सिक्को के अक्षरो के समान है किंतु कुछ अक्षरो के रूप माउएस और उसके कुल के शासको के सिक्को के अक्षरो से मिलते है। अतएव ये सिक्के सिनाद्रुसेस के शासन अथवा उसके बाद और माउएस के शासन के अन्त से पहले के थे, ये उस क्षेत्र मे प्रचलित थे जो आर्सेसिड शासन मे था अथवा जहा ये सिक्के पहुच सकते थे और जो बाद मे माउ-एस के अधिकार मे आया। ऐसा प्रदेश अराकोसिआ अथवा परोपमिसदे हो सकता था। इसको अराकोसिआ मानने का तर्क [यद्यपि यह अधिक सशक्त नही है] है–अर्सकिस थेओस सिक्को के समान आकार और विधि वाले एक सिक्के पर ग्रीक मे लेख उसिलेओस अडेल्फू हैं, अडेल्फू उपाधि स्पलिरिसेस के सिक्को पर मिलती है जो अराकोसिआ का शासक था।

प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व मे अराकोसिग्रा कुछ सीथो-पार्थियन शासको के हाथ मे आ गया था। इसका प्रमाण मुद्राशास्त्रीय है। इन शासको के सिक्को को कई वर्गो मे बाँटा जा सकता है। वर्ग 'क' मे एक ओर महत राजराज ओनोनेस और महाराज भ्राता स्पलहोर, वर्ग 'ख' मे ओनोनेस के साथ स्पलहोर के पुत्र स्पलगदम वर्ग 'ग' मे राजा के भ्राता स्पलीरिश और स्पलहोर के पुत्र स्पलगदम वर्ग 'घ' मे राज के भ्राता स्पलिरिसेस और महाराज के भ्राता स्पलिरिश और वर्ग 'ङ' मे महत राजराज स्पलिरिसेस और महत महाराजा स्पलिरिश के नाम है। वर्ग 'ङ' का एक प्रकार वर्ग 'क' अथवा 'ख' और वर्ग 'ग' के एक सिक्के पर अंकित मिला है। स्पलीरिस ही स्पलहोर है। इस प्रकार यहाँ शासको की दो पीढियाँ हैं। वोनोनेस के साथ उसके भाई स्पलहोर और स्पलहोर के पुत्र स्पलगदम ने शासन किया। बाद मे इन दोनो ने पृथक् क्षत्रप के रूप मे भी सिक्के बनाये। अन्त मे स्पलिरिसेस शासक हुआ। आरम्भ मे उसने राजा के भ्राता के रूप मे सिक्के चलाये थे। स्पलिरिसेस द्वारा वोनोनेस और स्पलहोर और वोनोनेस और स्पलगदम के सिक्को पर मिले भाला लिये अश्वारोही राजा जैउस प्रकार को अपनाना, अन्य किसी शासक के साथ उसके सम्बन्ध के अभाव मे यह सिद्ध करता है कि वह भी वोनोनेस का भाई था। प्रारम्भ मे उसने वोनोनेस के साथ शासन किया और वोनोनेस के बाद मुख्य शासक बना।

इसी सन्दर्भ मे अन्य सिक्को के चार वर्ग हैं जिनके पूर्वभाग पर ग्रीक और पृष्ठभाग पर खरोष्ठी के नाम अंकित है। प्रथम मे अज़ेस और अय, द्वितीय मे अज़ेस और अयिलिप, तृतीय मे अज़िलिसेस और अयिलिप और चतुर्थ मे अजिलिसेस और अय नाम मिलते है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से अज और अय तथा अज़िलिस और अयिलिष एक ही है। अज़ेस नाम के दो शासको के अस्तित्व का समर्थन द्वितीय और चतुर्थ वर्गों के सिक्को की बनावट मे अन्तर, तक्षशिला के उत्खनन के प्रमाण और खरोष्ठी के अक्षर 'स' के रूप के अन्तर से होता है। अज़ेस के सिक्को के पूर्वभाग की विधियो मे से "भाला लिये अश्वारोही राजा" विधि को अज़िलिसेस ने पुनरंकित किया जिससे यह अज़ेस अज़िलिसेस से पूर्व हुआ था। किन्तु "कोडा लिए हुए अश्वारोही राजा" विधि ताँबे और मिलावटी चाँदी के सिक्को पर मिलती है, यह अज़ेस अज़िलिसेस से बाद का था क्योकि अज़िलिसेस के चाँदी के सिक्को मे मिलावट नही मिलती। इस प्रकार इन सिक्को मे अज़ेस प्रथम, अज़िलिसेस और अजेस द्वितीय का ज्ञान होता है। कुछ समय तक अज़िलिसेस अज़ेस प्रथम के साथ और अज़ेस द्वितीय अज़िलिसेस के साथ शासन मे सम्बन्धित थे। अराकोसिग्रा से प्राप्त एक प्रकार पर ग्रीक मे स्पलिरिसेस और खरोष्ठी मे अय का नाम मिलता है। अज़िलिसेस का एक प्रकार स्पलिरिसेस के एक सिक्के पर पुनरंकित है। अतएव स्पलिरिसेस से सम्बन्धित अय को अज़िलिसेस से पूर्व का अजेस प्रथम मानना चाहिए। इस प्रकार वोनोनेस के वर्ग के शासक अज़ेस वर्ग के शासको के बाद हुए थे।

अज़ेस द्वितीय के साथ उसके सिक्को पर विजयमित्र का पुत्र अप्रचरज इन्द्रवर्मन और उसके बाद इन्द्रवर्मन (=इन्द्रवर्मन्) का पुत्र अश्पवर्मन् सम्बन्धित है। इन्द्रवर्मन् का पुत्र अश्पवर्मन् और अश्प का भतीजा ससन् गोण्डोफारेस प्रथम के साथ सिक्को पर सम्बन्धित

हैं। अतएव अज़ेस द्वितीय का गोण्डोफारेस प्रथम (२०/२१/४६ ई०) से पूर्व अन्त हो गया था और वोनोनेस और अज़ेस वर्ग के शासको का शासनकाल २०/२१ ई० से पूर्व रखना चाहिये। एक पीढी के लिये २६ वर्ष और एक शासन के लिये १६ वर्ष का औसत मानकर वोनोनेस के शासन का आरम्भ ५० ई०पू० से पूर्व, सभवत ७० ई० पू० मे भी पूर्व, रखा जा सकता है। उसका शासन प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व के द्वितीय चरण से पूर्व नही रखा जा सकता। वोनोनेस और उसके वर्ग के शासको ने अराकोसिआ पर शासन किया था किन्तु सीस्तान और अन्य क्षेत्रो पर उनका अधिकार सिद्ध नही होता। अर्सकिस थेओस के सिक्को के आधार पर आर्ससिड लोगो का अराकोसिआ पर अधिकार वोनोनेस के काल के लगभग ही स्वीकार किया गया है। आर्ससिड वश मे भी दो शासको का नाम वोनोनेस मिलता है। अतएव यह सम्भव है कि वोनोनेस का कुल आर्ससिड आक्रमण के सन्दर्भ मे ही भारत मे आया था किन्तु वोनोनेस के समय से उनका स्वतन्त्र अधिकार स्थापित हुआ। वोनोनेस के वाद अराकोसिआ पर स्पलिरिसेस, अज़ेस प्रथम और अजिलिसेस ने शासन किया। किन्तु अज़ेस द्वितीय के सिक्के अराकोसिआ मे नही वने थे। अतएव अराकोसिआ पर अज़ेस के कुल के अधिकार का अन्त अजिलिसेस के शासनकाल मे अथवा अज़ेस द्वितीय के शासन से पूर्व रखा जा सकता है। गोण्डोफारेस के शासन का आरम्भ २०/२१ ई० मे मानकर एक पीढी और एक शासन के उपर्निर्दिष्ट औसत के आधार पर अज़ेस द्वितीय के शासन का आरम्भ ६/५ ई० पू० और १/२ ई० के वीच और अजिलिसेस के शासन का आरम्भ ३२/३१ ई० पू० और १६/१८ ई० पूव के वीच रखा जा सकता है। अतएव अराकोसिआ पर कुल के अधिकार का अन्त ३२/३१ ई० पू० और १/२ ई० के वीच सम्भव प्रतीत होता है।

चरक्स के इसीडोर की रचना स्टाथम्वा पार्थिक्वा से ज्ञात होता है कि प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व के अन्तिम चरण मे अराकोसिआ पुन आर्ससिड साम्राज्य के अन्तगत आ गया था। स्टाथम्वा पार्थिक्वा (रचना २६ ई० पू० के वाद, किन्तु इसकी आर्ससिड साम्राज्य के विषय मे सूचना 1 ई० पू० के लगभग की है) के अनुसार सकस्तान (सीस्तान) और अराकोसिआ पार्थिअन शासन मे थे। इसी विवरण मे सकस्तान के सीगल (Sigal) नगर मे सकइ लोगो के राजकीय आवास का उल्लेख है। इससे प्रतीत होता है कि सीस्तान मे आर्ससिड आधिपत्य मे शको का एक सामन्त राज्य था। स्टाथम्वा की सूचना का समर्थन चइन हानशू के अध्याय ६६ अ से होता है जिसकी सूचनाएँ मुख्यत ३३ ई० पू० से पूव की हैं। इससे ज्ञात होता कि वू-यी-शान-ली (सीस्तान मे स्थित) मे छोटे-छोटे सामन्त थे जो आन-ही (पार्थियन साम्राज्य) के अधीन थे।

स्टाथम्वा पार्थिक्वा मे अराकोसिआ की राजधानी अलेक्जण्ड्रोपोलिस को ग्रीक कहा गया है जिससे स्थानीय जनता मे ग्रीक लोगो की बहुलता अथवा ग्रीक सास्कृतिक तत्वो की प्रधानता का सकेत होता है। इस उल्लेख से यह नही सिद्ध होता कि आर्ससिड लोगो ने अराकोसिआ को ग्रीक लोगो से प्राप्त किया था, अजिलिसेस और अज़ेस द्वितीय की सभावित

तिथियों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि आर्सेसिड ने अजेस प्रथम के कुल से अराकोसिआ को प्रथम शताब्दी ईसवी के अन्तिम चरण में छीना था।

इस काल में आर्सेसिड अधिकार अराकोसिआ के दक्षिण-पूर्व में भी फैला। अग्रिप्पा के प्रमाण पर हम २६/२५ ई० पू० में निचली सिन्धु घाटी में आर्सेसिड लोगों की उपस्थिति मान सकते हैं। किन्तु यहाँ आर्सेसिड से कौन पराजित हुआ यह ज्ञात नहीं है। बलूचिस्तान में सर्वैदिआ और अरबिस नदी (पुरली) के प्रदेश में और (कोस्मोग्राफिआ के आधार पर) सबीर (सौवीर) पर भी आर्सेसिड अधिकार सम्भावित है, किन्तु इन प्रमाणों का काल अनिश्चित अतएव इनकी उपयोगिता सदिग्ध है। आर्सेसिड राज्य के इस विस्तार के पीछे अराकोसिआ की पुनर्विजय के साथ ही रोम के साथ बढ़ते व्यापारिक सम्बन्धों में निचली सिन्धु घाटी का आर्थिक महत्त्व भी कारण बना होगा।

आर्सेसिड लोगों का पश्चिमोत्तर भारत में भी अजेस वर्ग के राज्य के कुछ भाग पर अधिकार हुआ। यह अर्सकिस डिकैओस (Arsakes Dikaios) के चार ताँबे के और एक अशुद्ध चाँदी के सिक्कों से सिद्ध होता है। इनके पूर्वभाग पर दाहिने हाथ में कोड़ा लिये दक्षिणाभिमुखी अश्वारोही और ग्रीक में लेख बसिलेउन्तोस बसिलेओन दिकैऊ अर्साकू (Basileuntos Basileon Dikaiou Arsakou) और पृष्ठभाग पर वामकर में राजदण्ड लिये वामाभिमुख ज़ेउस और दाहिने हाथ में ताल-माला लिये निके और खरोष्ठी लेख महरजस रजरजस महतस अर्षकस ध्रमिअस है। ऐसा अकन अजिलिसेस-अजेस द्वितीय, एकाकी अजेस द्वितीय, राजवुल और गोण्डोफारेस-ससन के इस प्रकार के सिक्कों की शैली के समान है, अतएव ये सब सम्भवतः एक ही टकसाल में ढले थे, ये सभी तक्षशिला से सम्बन्धित थे। अर्सकिस दिकैओस के सिक्कों का केवल एक प्रकार और उनकी कम सख्या से तक्षशिला पर उसका अधिकार दीर्घकालीन नहीं प्रतीत होता। उसका राज्यकाल अजेस द्वितीय के बाद और गोण्डोफारेस प्रथम-ससन से पूर्व रखा जा सकता है। उसका अर्सकिस नाम और कुछ आर्सेसिड शासकों की भाँति बसिलेउन्तोस बसिलेओन उपाधि उसे आर्सेसिड वश से सम्बन्धित करते हैं।

किन्तु शीघ्र ही भारत से पार्थियन शासन उठने लगा। स्टाथम्वा पार्थिक्वा में पार्थियन राज्य को अराकोसिआ की राजधानी अलेक्जण्ड्रोपोलिस और अराकोटुस नदी तक फैला कहा गया है। अतएव इस ग्रन्थ की रचना (२६/२५ ई० पू० और १ ई० पू० के बीच) तक अथवा १ ई० पू० तक अराकोसिआ के पूर्व से पार्थियन अधिकार उठ गया था। गोण्डोफारेस का राज्य निचली सिन्धु घाटी पर स्थापित हुआ था, किन्तु उसका राज्यकाल २०/२१ से ४६ ई० तक था। अतएव इस प्रदेश से आर्सेसिड को हटाने का श्रेय किसी दूसरी अज्ञात शक्ति को देना होगा।

सम्भवतः प्रथम शताब्दी ईसवी के प्रथम चरण में पार्थियन साम्राज्य के अराकोसिआ और सकस्तान प्रान्त ओर्थग्नेस के अधिकार में आ गये थे। अनेक ताँबे के सिक्कों पर पूर्व भाग पर ग्रीक में ओर्थग्नेस के लिये महान राजराज लेख और पृष्ठभाग पर खरोष्ठी लेख महरजस रजतिरजस महतस गुदव्हरस गदन मिलता है। पूर्वभाग और पृष्ठभाग पर समान रूप से सम्राट पद की सूचक उपाधियों के प्रयोग के आधार पर इन सिक्कों को अंकित

शासकों के संयुक्त शासन का द्योतक कह सकते है । पूर्वभाग पर ग्रीक लेख के आधार पर हम ओर्थाग्नेस को वरिष्ठ मानेंगे । कुछ ताँबे के सिक्को पर इन्दुफ्रोस (Ynduphrros=गोन्दोफारेस) को ग्रीक मे महान् राजातिराज और गड (अथवा गदन) को खरोष्ठी मे महाराज विजयी सेनापति कहा गया है । ओर्थाग्नेस के सिक्को पर भी सम्राट पद की सूचक उपाधियाँ गोण्डोफारेस के लिये ही प्रयुक्त हुई है, गदन के लिये नही । अतएव गोण्डोफारेस ओर्थाग्नेस के साथ संयुक्त शासक था और गड गोण्डोफारेस का सहायक था । गोण्डोफारेस के शासन का आरम्भ २०/२१ ई० के लगभग मानने पर उसके ज्येष्ठ संयुक्त शासक के शासन का आरम्भ एक पीढ़ी पूर्व अर्थात् १/२ ई० अथवा ६/५ ई० पू० से पहले नही रखा जा सकता । इन सिक्को की टकसाल का भी निर्णय हो सकता है । ओर्थाग्नेस के ग्रीक और खरोष्ठी लेख वाले सिक्के कन्दहार और ग्रीक लेख वाले सिक्के सीस्तान के है । अत विवेच्य सिक्को को कन्दहार का माना जा सकता है जो प्राचीन अराकोसिआ मे स्थित था । इस प्रकार हम कह सकते है कि ६/५ ई० पू० अथवा १/२ ई० और २०/२१ ई० के बीच कभी ओर्थाग्नेस ने गोण्डोफारेस और गड की सहायता से अराकोसिआ मे शासन शुरू किया । ओर्थाग्नेस के कुछ सिक्के जिनके, पूर्वभाग पर राजा का ऊर्ध्वशरीर और पृष्ठभाग पर सिंहासनासीन राजा को मुकुट पहनाते हुए स्त्री है, मुख्यत सीस्तान से प्राप्त होते हैं । इन पर केवल ग्रीक मे सम्राट पद सूचक उपाधि के सहित ओर्थाग्नेस का नाम है । इनसे सीस्तान पर ओर्थाग्नेस का अधिकार सिद्ध होता है ।

ओर्थाग्नेस के कुछ अराकोसिअन प्रकार के सिक्को पर पृष्ठभाग पर खरोष्ठी मे केवल गुडून (=गदन) का नाम मिलता है, गोण्डोफारेस का नही । इससे सूचित होता है कि ओर्थाग्नेस के जीवनकाल मे ही गोण्डोफारेस का अराकोसिआ से सम्बन्ध समाप्त हो गया था ।

पश्चिमोत्तर भारत के कुछ भागो पर गोण्डोफारेस के अधिकार के प्रमाण स्पष्ट है । अश्वारोही नृप/दक्षिणाभिमुखी खडा पल्लास प्रकार के सिक्के पेशावर जिला (जहाँ से १०३ वर्ष का तख्तेबहि का अभिलेख भी प्राप्त हुआ है), अश्वारोही नृप/खडा ज़ेउस तक्षशिला और राजा का ऊर्ध्वशरीर/खडा पल्लास झेलम के पूर्व मे ढाले गये थे । ऊर्ध्वशरीर/निके प्रकार के दो सुवर्ण के सिक्के भी गोण्डोफारेस के ही थे और निचली सिन्धु घाटी के एक भाग पर उसके शासन के सूचक हैं । इन सभी सिक्को पर केवल गोण्डोफारेस का नाम है, उसके लिये सम्राट पद की सूचक उपाधियाँ प्रयुक्त हैं और इन क्षेत्रो से ओर्थाग्नेस और गड का कोई सम्बन्ध ज्ञात नही है । अतएव गोण्डोफारेस का भारत मे स्वतन्त्र शासन मानना होगा । गोण्डोफारेस और अश्पवर्मन् के तक्षशिला-प्रकार के संयुक्त सिक्के है । इससे पूर्व अश्पवर्मन ने अजेस द्वितीय के साथ गन्धार-प्रकार के सिक्के बनाये थे । अज़ेस द्वितीय का शासन २०/२१ ई० के बाद अधिक समय तक नही बना रहा होगा । अतएव गोण्डोफारेस के द्वारा पश्चिमोत्तर भारत की विजय २०/२१ ई० अथवा उसके कुछ समय बाद हुई होगी । गोण्डोफारेस और अज़ेस द्वितीय मे मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध की सम्भावना के अभाव मे यही कहना ठीक होगा कि गोण्डोफारेस ने इस प्रदेश को अज़ेस

द्वितीय से जीता था। इस विजय का काल सम्भवत वही था जो ओर्थाग्नेस और गुडून के अराकोसिआ मे सयुक्त सिक्को का था। किन्तु यह स्पष्ट नही है कि गोण्डोफारेस ने यह विजय स्वेच्छा से अथवा ओर्थाग्नेस के आदेश पर की थी।

गोण्डोफारेस ने स्वतन्त्र रूप से सम्राट-पद-सूचक उपाधियो के सहित अराकोसिआ और सीस्तान प्रकार के सिक्के चलाये थे। अतएव ओर्थाग्नेस के बाद कुछ समय के लिये गोण्डोफारेस का इन क्षेत्रो पर शान्तिपूर्वक अथवा विजय के द्वारा अधिकार स्थापित हुआ था। गोण्डोफारेस और गदन के अराकोसिअन प्रकार के सयुक्त सिक्को से स्पष्ट है कि गदन ने गोण्डोफारेस की अधीनता स्वीकार कर ली थी।

इस प्रकार २०/२१ ई० और ४६ ई० के बीच गोण्डोफारेस का पश्चिमोत्तर भारत, अराकोसिआ और सीस्तान पर शासन स्थापित हुआ था, अराकोसिआ और सीस्तान मे ओर्थाग्नेस के शासन की समाप्ति ४६ ई० पूव हुई थी।

ओर्थाग्नेस और उससे सम्बन्धित शासको को सीथो-पार्थियन कहा जा सकता है। स्टाथम्वा पार्थिक्वा मे प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व के अन्तिम चरण मे आर्ससिड आधिपत्य मे सकस्तान मे एक शक सामन्त कुल का उल्लेख है, किन्तु आर्ससिड साम्राज्य मे सीथियन-पार्थियन सम्मिश्रण की सम्भावना देखते हुए इन्हे सीथो-पार्थियन मानना उचित होगा। ओर्थाग्नेस से पूर्व सीस्तान मे प्रचलित आर्ससिड सिक्को का ओर्थाग्नेस के सिक्को पर प्रभाव स्पष्ट है। सभव है कि ओर्थाग्नेस सीस्तान मे आर्ससिड के अधीन किसी सामन्त कुल से सम्बन्धित था, किन्तु अपने सिक्के चलाने के समय वह स्वतन्त्र था। सभवत उसने आर्ससिड लोगो से अराकोसिआ और सीस्तान प्रथम शताब्दी ईसवी के प्रथम चरण मे प्राप्त किये थे।

हिन्दुकुश के दक्षिण अथवा दक्षिण-पूर्व से भी आर्ससिड निष्कासित हुए। ह्वाउहान-शू से ज्ञात होता है कि यूएह्-चिह राजा चइउ-चिउ-चऊएह (कुषाण शाखा का कुजुल कडफिसेस) ने आन-ही (आर्ससिड साम्राज्य) से काओ-फू (काबुल प्रदेश) जीत लिया था। काओ-फू के लोगो की व्यापार-निपुणता और उनकी समृद्धि कुषाणो के आकर्षण का कारण थी। परोपमिसडे जिसमे काओ-फू सम्मिलित था प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व मे आर्ससिड लोगो के अधीन था। किन्तु स्टाथम्वा पार्थिक्वा मे, जिसकी रचना २६/२५ और १ ई० पूर्व के बीच समकालीन सूचना के आधार पर हुई थी, परोपमिसडे पार्थियन साम्राज्य के अन्तर्गत नही उल्लिखित है, सभवत इस क्षेत्र से आर्ससिड अधिकार १ई० पू० तक उठ गया था।

इस प्रकार भारत के सीमावर्ती क्षेत्रो से आर्ससिड अधिकार को कुषाण, सीथो-पार्थियन सामन्त और कुछ दूसरी शक्तियो ने समाप्त किया था। प्रथम शताब्दी ईसवी के प्रथम चरण मे आर्ससिड इन क्षेत्रो से उठ गये थे।

छठे अध्याय मे इस इतिहास के क्रम को सक्षेप मे आगे बढाया गया है। रोम के हस्त-क्षेप और आन्तरिक कलह के कारण आर्ससिड अपना अव पतन रोक नही सके। कुषाणो ने भारत के बाहर भी पार्थियन साम्राज्य मे प्रवेश किया। कुजुल कडफिसेस की पश्चिमी बक्ट्रिया मे स्थित बक्ट्र की विजय गोटार्जेस द्वितीय के 'वेदी पर राजा' प्रकार के सिक्को के

अनुकरण से सूचित होती है। सभवत आर्संसिड लोगो ने प्रतिरोध किया था। फू-फा-साग थिन युग्रान चुग्राल नामक ग्रंथ के अनुसार ग्रान-ही का राजा निर्दयी और जिद्दी था, उसने चार प्रकार के सैनिक एकत्रित करके राजा चि-नि-च (=कनिष्क) पर ग्राकमण किया, युद्ध मे चि-नि-च विजयी हुआ। आर्संसिड और कुषाणो के कलह का उल्लेख अम्मिग्रानुस मार्सेल्लिनुस (Ammianus Marcellinus) ने भी किया है। उसका कथन है कि बक्ट्रिग्रानी (=कुषाण) लोगो के राजा ग्रार्मसिड लोगो के लिए भी दुर्धर्ष थे। ईरान और भारत के सीमावर्ती प्रदेशो मे स्थित शक्तियो के परस्पर सघर्ष की कथा के ग्रगले चरण के रूप मे ससनिड और कुषाणो के विरोध का काल ग्राता है, कुषाणो के ग्रध पतन मे ससनिड लोगो का प्रमुख योगदान था।

पुस्तक मे पाँच उपयोगी परिशिष्ट है। प्रथम मे ग्रज़ेस प्रथम के वर्ग के शासको के पश्चिमोत्तर भारत के साथ सम्बन्ध का विवरण है। ग्रज़ेस प्रथम कुछ समय तक स्पलिरिसेस के साथ शासन मे सम्बन्धित रहा। उसके सिक्को के प्रकार या प्राप्ति-स्थान से ऊपरी काबुल घाटी पर उसका अधिकार नही सूचित होता। किन्तु ग्ररात्रोसिग्रा पर उसका प्रभुत्व सिद्ध करने के लिये मुद्राशास्त्रीय प्रमाण है। उसके सिक्को के दो प्रकार है जिनमे पूर्वभाग पर माला लिए ग्रश्वारूढ राजा और पृष्ठभाग पर एक मे वामकर मे राजदण्ड और प्रसारित दक्षिणकर मे वज्र लिये सम्मुख खडे ज़ेउस और दूसरे में ग्रासीन हेराक्लेस है। वोनोनेस वर्ग के शासको के ग्ररात्रोसिग्रा क्षेत्र मे प्रचलित सिक्को पर भी यही प्रकार मिलते हैं।

गन्धार प्रदेश पर ग्रज़ेस का अधिकार सिद्ध करने के दो मुद्राशास्त्रीय प्रमाण हैं। प्रथम, ग्रज़ेस के कई सिक्को पर खडा वृषभ और बाँया हाथ कमर पर और ग्राधा उठे दाँये हाथ मे पुष्प लिये खडी स्त्री है। ब्रिटिश सग्रहालय के एक पदक पर यही ग्राकृतियाँ और लेख (प) खलवदिदेवद ग्रपए (पुष्कलावती की नगरदेवी ग्रम्पा) मिलता है। ग्रतएव ये सिक्के गधार मे स्थित पुष्कलावती की टकसाल मे बने थे। दूसरा, ग्रज़ेस प्रथम और ग्रज़िलिसेस के कुछ सिक्को पर माला हाथ मे लिये ग्रश्वारोही वामाभिमुख शस्त्रधारी खडे हुए पल्लस ग्रकित हैं। इनसे ग्रज़ेस द्वितीय के कोडा लिये हुए ग्रश्वारोही प्रकार वाले सिक्को को सम्बन्धित किया जा सकता है। परिवर्तन के ग्रगले चरण मे ग्रज़ेस द्वितीय के सिक्को पर पल्लस दक्षिणाभिमुख है। अन्तिम प्रकार ग्रजेस द्वितीय के उन सिक्को पर भी मिलता है जो उसने इन्द्रवर्मन के पुत्र ग्रस्पवर्मन ग्रथवा विजयमित्र के पुत्र ग्रप्रचरज इन्द्रवर्मन (इन्द्रवर्मन) के साथ सयुक्त रूप से चलाये थे। यदि इन सिक्को का विजयमित्र बजौर के मजूषा ग्रभिलेख का ग्रप्रचरज विजयमित्र है तो इनके मूल ग्रज़ेस प्रथम के सिक्को को भी गन्धार क्षेत्र मे रखा जा सकता है।

मुद्राशास्त्रीय प्रमाण से ही ग्रज़ेस प्रथम का तक्षशिला पर भी अधिकार सिद्ध होता है। उसके सिक्को का एक प्रकार कोडा लिये ग्रश्वारोही राजा दाहिने हाथ मे राजदण्ड लिये वामाभिमुख खडे ज़ेउस और ताल शाखा और पुष्पमाला लिये पखयुक्त निके हैं। दूसरे प्रकार मे ज़ेउस और निके का ऐसा ग्रकन पृथक्-पृथक् क्रमश पूर्वभाग और पृष्ठभाग पर हुआ है। पहला प्रकार दूसरे प्रकार से ही बना है। ग्रतएव दोनो एक ही टकसाल में,

सभवत तक्षशिला मे, बने थे। इसका समर्थन इससे होता है कि अजेस द्वितीय के प्रथम प्रकार के अनेक सिक्के तक्षशिला से प्राप्त हुए है। यही प्रकार तक्षशिला मे उत्खनन से प्राप्त क्षत्रप राजुवुल के एक सिक्के पर मिलता है। राजुवुल कदाचित अजिलिसेस अथवा अजेस द्वितीय के अधीन क्षत्रप और महाक्षत्रप था (काल-गणना इस सुझाव के प्रतिकूल नही है। अजेस द्वितीय के शासनकाल का आरम्भ ६/५ ई पू और १/२ ई के बीच हुआ था। इसी के लगभग राजुवुल के क्षत्रप और महाक्षत्रप के रूप मे कार्यकाल का आरम्भ हुआ होगा क्योंकि मथुरा अभिलेख के अनुसार उसका पुत्र शोडास वर्ष ७२ अर्थात् १४/१५ ई में महाक्षत्रप था)। उनके अन्य प्रकार के सिक्को से सिद्ध होता है कि उसका शासन झेलम से मथुरा तक फैला था (उसके ऊर्ध्वशरीर/पल्लासवाले सिक्के झेलम के पूर्व मिले है, दो गजों के द्वारा लक्ष्मी के अभिषेक के पृष्ठभाग वाले सिक्को को मथुरा से सम्बन्धित किया गया है), तक्षशिला इसी प्रदेश मे स्थित था।

इस प्रकार अजेस प्रथम का राज्य गन्धार से तक्षशिला तक अर्थात् सिन्धु-झेलम दोआब पर फैला था।

सिक्को के कई प्रकार, यथा जेउस निकेफोरोस (Zeus Nikephoros), राजदण्ड लिये खडे जेउस, निके और पोसेडोन (Poseidon) अजेस प्रथम और माउएस दोनो के ही द्वारा प्रयुक्त हुए हैं। अतएव यह कहा जा सकता है कि अजेस प्रथम ने, जो माउएस का अनुवर्ती था, माउएस के साम्राज्य के एक बडे भाग पर अपना अधिकार स्थापित किया था। किन्तु कुछ भाग मे माउएस के बाद कुछ काल के लिये ग्रीक-शासन पुनर्स्थापित हुआ और फिर अजेस प्रथम के वर्ग के शासकों द्वारा समाप्त किया गया। इसका प्रमाण यह है कि माउएस का एक सिक्का (आसीन पुरुष/गज) अपोलोडोटस द्वितीय के आसीन अपोलो/तिपाई प्रकार द्वारा पुनरंकित हुआ है और अपोल्लोडोटस द्वितीय और हिप्पोस्ट्राटस के कई सिक्कों को अजेस द्वितीय ने पुनरंकित किया था।

अजिलिसेस कुछ समय तक अजेस प्रथम के साथ शासन से सम्बन्धित था और बाद मे प्रधान शासक हुआ। उसके सिक्कों मे से मालाधारी अश्वारोही राजा/आसीन हेराक्लेस प्रकार अराकोसिया की टकसाल, मालाधारी अश्वारोही राजा/खडे पल्लस प्रकार को गधार अथवा उसके समीप की टकसाल और खडे जेउस निकेफोरोस, राजदण्ड लिये खडे जेउस आदि प्रकारो को तक्षशिला की टकसाल का कहा जा सकता है। उसके सिक्को के प्राप्ति-स्थान से भी इन क्षेत्रो पर उसका अधिकार सिद्ध होता है।

अजिलिसेस के सिक्को के पृष्ठभाग की एक विधि है दो गजो के द्वारा लक्ष्मी का अभिषेक। यही महाक्षत्रप राजुवुल और उसके पुत्र शोडास (क्षत्रप और महाक्षत्रप दोनो ही रूप मे) के सिक्को के पृष्ठभाग की विधि है जिनको मथुरा क्षेत्र से सम्बन्धित किया जाता है। राजुवुल अजिलिसेस, अजेस द्वितीय अथवा दोनो के ही अधीन था, इसी से उसने अजिलिसेस से सिक्को की इस विधि को अपनाया। अजिलिसेस की इस विधि के आधार पर उसका मथुरा पर अधिकार माना जा सकता है। अजलिसेस ने झेलम के पूर्व का प्रदेश स्ट्राटो प्रथम और द्वितीय के कुल से प्राप्त किया था, उनके ऊर्ध्वशरीर पल्लस अथेने (Pallas Athene) प्रकार के सिक्को का अजिलिसेस ने अनुकरण किया है।

अजिलिसेस के ये सिक्के मुख्यतः झेलम के पूर्व में (मथुरा तक) मिलते हैं, कभी-कभी स्ट्राटो प्रथम और द्वितीय के सिक्कों के साथ।

राजुवुल ने अजिलिसेस के अधीन तक्षशिला और मथुरा दोनों स्थानों पर शासन किया। राजुवुल के पुत्र क्षत्रप शोडास और क्षत्रप तोरणदास ने भी मथुरा से सम्बन्धित लक्ष्मी-अभिषेक वाली विधि अपनाई थी किन्तु इन पर अजेस प्रथम के कुल का प्रभाव निश्चित नहीं है। तक्षशिला में राजुवुल के बाद क्षत्रप बनने वालों में जिहोणिक का नाम आता है। तक्षशिला अभिलेख वर्ष १९१ में उसे मणिगुल का पुत्र और चुक्ष का क्षत्रप कहा गया है। उसी का नाम कुछ सिक्कों पर क्षत्रप जियोनिसेस (Zeionises) और क्षत्रप मणिगुल का पुत्र क्षत्रप जिहुणिय मिलता है। नगरदेवी द्वारा राजा को मुकुट पहनाने वाली पृष्ठभाग की विधि वाले उसके सिक्कों को पुष्कलावती से सम्बन्धित किया गया है। उसके शासन का आरम्भ अजिलिसेस के शासन से पूर्व नहीं हो सकता और अन्त अजेस द्वितीय के बाद हुआ होगा।

अजिलिसेस के साथ कुछ काल तक सम्बन्धित रहने के बाद अजेस द्वितीय सिंहासनासीन हुआ था। अराकोसिया की टकसाल में निर्मित उसका कोई भी सिक्का नहीं मिला। सम्भवतः उसके कुल का अराकोसिया पर अधिकार अजिलिसेस के शासन के अन्त अथवा अजेस द्वितीय के स्वतन्त्र शासन के आरम्भ में उठ गया था। सिन्धु के पश्चिम में गन्धार अथवा उसके समीप के प्रदेश पर अजेस द्वितीय का अधिकार उसके कोड़ाधारी अश्वारोही राजा/वाम, सम्मुख अथवा दक्षिणाभिमुखी खड़े पल्लस प्रकार वाले सिक्कों से सिद्ध होता है। इस क्षेत्र में अप्रचराज इन्द्रवर्मन् और उसका पुत्र स्ट्रैटेगोस (Strategos) अस्पवर्मन उसके अधीन शासन कर रहे थे। खड़े जेउस निकेफोरोस और सम्भवतः राजदण्डधारी खड़े जेउस की पृष्ठभागीय विधि वाले उसके सिक्के तक्षशिला में ढले थे। उसके सिक्कों का कोई प्रकार मथुरा से निश्चित प्रकार से सम्बन्धित नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः मथुरा के क्षत्रप स्वतन्त्र हो गये थे।

अजेस के कुल के शासकों का तिथिक्रम इस प्रकार है—अजेस द्वितीय ने ६/५ ई०पू० और १/२ ई० के बीच से लेकर २०/२१ ई० के लगभग तक राज्य किया था, अजिलिसेस के शासनकाल का आरम्भ ३२/३१ ई० पू० और १९/१८ ई० पू० के बीच हुआ था, अजेस प्रथम के शासन का आरम्भ ५८/५७ ई० पू० और ३८/३७ ई० पू० के बीच हुआ होगा। यदि हम अजेस सम्वत् का आरम्भ अजेस प्रथम के शासन के आरम्भ से मानें और उसको ५८ ई० पू० में चला सम्वत् मानें तो इस कालक्रम का समर्थन होता है।

इस प्रकार प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व के उत्तरार्द्ध में अजेस कुल पश्चिमोत्तर भारत में प्रमुख राजनीतिक शक्ति था, यद्यपि आरम्भ में कुछ भागों पर कुछ परवर्ती इण्डो-ग्रीक शासकों का अधिकार बना रहा था। अजेस कुल के साम्राज्य का अन्त गोण्डोफारेस प्रथम ने किया था।

द्वितीय परिशिष्ट में गोण्डोफारेस प्रथम की तिथि का विवेचन है। तख्त-ए-बाही अभिलेख में महाराज गुदुव्हर के २६ वें वर्ष और संवत्सर १०३ के वैशाख मास के प्रथम दिन एक दान का उल्लेख है। यह गुदुव्हर ही गोण्डोफारेस है।

रैप्सन ने गोण्डोफारेस प्रथम के चिह्न को ओरोडेस द्वितीय (५७-३७/३६ ई० पू०) के कुछ सिक्को पर अकित दिखलाया है। यद्यपि इस चिह्न की आर्टावानुस तृतीय (१२-३८/४० ई०) के दो सिक्को पर उपस्थिति सदिग्ध है, आर्टावानुस के सिक्को के पृष्ठभाग की विधि (पूर्वाभिमुखी अश्वारोही पुरुष, सम्मुख ऊर्ध्व दक्षिणबाहु मे तालवृक्ष की शाखा और वाम बाहु मे माला लिये ताइशेदेवी (Tyche)गोण्डोफारेस के सिक्को के पूर्वभाग की विधि जैसी है। गोण्डोफारेस और ओर्थाग्नेस वर्ग के अन्य शासको ने पार्थियन सम्राटो के सिक्को का अनुकरण किया है, अतएव आर्टावानुस के सिक्को को ही मूल मानना चाहिये। आर्टावानुस के इन सिक्को की तिथि है २७/२८ ई०। अतएव गोण्डोफारेस ने कुछ काल के लिये २७/२८ ई० के बाद शासन किया होगा, उसके राज्य-काल को प्रथम शताब्दी ईसवी के पूर्वार्द्ध मे रखा जा सकता है।

ज्ञात सवतो मे से विक्रम सवत् का ही १०३ वर्ष प्रथम शताब्दी ईसवी के पूर्वार्द्ध मे आता है। अत तख्त-ए-बाही अभिलेख मे विक्रम सवत् के प्रयोग को माना जा सकता है, अभिलेख की तिथि ४५/४६ ई० (१०३-५८/५७) हुई। अभिलेख का २६ वाँ वर्ष गुदुह्वर के स्वतन्त्र अथवा सयुक्त शासक के रूप मे शासन के आरम्भ से है। अतएव गोण्डोफारेस का शासन २०/२१ ई० (४५/४६–२६+१) मे ४५/४६ ई० तक अवश्य था। अभिलेख मे कार्त्तिकादि सवत्सर का प्रयोग स्वीकार कर अभिलेख की तिथि ४६ ई० के अप्रैल मास मे रख सकते है।

किन्तु कनिष्क से पूर्व उत्तरी भारत के सभी खरोष्ठी अभिलेखो मे ५८ ई० पू० के सवत् का ही प्रयोग स्थापित करना उचित नही होगा। तीन अभिलेखो मे एक-दूसरे सवत् की सभावना स्पष्ट है।

पहला चुक्स के क्षत्रप जिहोणिक का सिरकप अभिलेख है जिसमे तिथि १९१ वर्ष है। यह अभिलेख एक भाण्ड मे प्राप्त रजतपात्र पर अकित है जो समीपस्थ भवनो के अन्य भाण्डो की भाँति कुषाण आक्रमण के सन्दर्भ मे गाडा गया था। अतएव प्रयुक्त सवत् का १९१ वाँ वर्ष सिरकप पर कुषाण आक्रमण से पहले का होना चाहिये।

कुषाणो मे कुजुल कडफिसेस ने तक्षशिला की विजय की थी किन्तु फिलोस्ट्राटुस से ज्ञात होता है कि अपोल्लोनिउस (Apollonius) ने तक्षशिला मे ४६ ई० मे फ्राओटेस को, जो कदाचित् पार्थियन शासक था, राज्य करते पाया था। अत कुषाणो की तक्षशिला विजय ४६ ई० के पूर्व नही हुई थी किन्तु स्वय कुजुल के ५५ ई० के बाद शासन करते रहने की सभावना नही है। इस प्रकार कुषाणो की तक्षशिला विजय ४६ और ५५ ई० के बीच हुई थी।

क्षत्रप जिहोणिक ही क्षत्रप जिहुणिअ है जिसके कुछ चाँदी के सिक्को मे अधिक मिलावट है। पश्चिमोत्तर भारत मे विदेशी चाँदी के सिक्को मे ऐसी मिलावट का आरम्भ अजेस द्वितीय के काल से मिलता है जिसके शासनकाल का आरम्भ ६/५ ई० पू० और १/२ ई० के बीच हुआ था। जिहोणिक का क्षत्रप बनना अजेस के शासनकाल से एक पीढी से अधिक पहले नही हो सकता। अजिलिसेस ने अजेस द्वितीय के साथ और उससे पहले भी शासन किया था और उसके शासन का आरम्भ ३२/३१ ई० पू० और १९/१८

ई० पू० के बीच हुआ था। अत' जिहोणिक का क्षत्रप बनना ३२/३१ ई० पू० से पहले सम्भव नही है।

इस प्रकार जिहोणिक के अभिलेख का १६१ वर्ष ३२ ई० पू० से पहले और ५५ ई० के पश्चात् नही रखा जा सकता। अत प्रयुक्त सम्वत् का आरम्भ २२३ और १३६ ई० पू० के बीच मानना चाहिये।

दूसरा अभिलेख तक्षशिला का है। इसमे ७८वे वर्ष का उल्लेख है। इसमे मोग अथवा माउएस का नाम आता है जो गोण्डोफारेस से कम से कम तीन पीढी पूर्व हुआ था। अत मोग के अभिलेख का ७८वाँ वर्ष और गोण्डोफारेस के अभिलेख का १०३ वाँ वर्ष एक ही सम्वत् के नही हो सकते, मोग के अभिलेख मे भी सम्भवत जिहोणिक के अभिलेख का सम्वत् प्रयुक्त हुआ है।

तीसरा अभिलेख खलत्से से मिला है। इसमे तिथि १८७वाँ वर्ष है। इसमे उविम कव्फिस का उल्लेख है जो विम कडफिसेस ही था। अभिलेख मे ५८ ई० पू० के सम्वत् का प्रयोग मानने पर विम का १२९/१३० ई० मे शासन स्वीकार करना पडेगा। इसके अनुसार कुजुल के ८० वर्ष से भी अधिक की आयु में मृत्यु के पश्चात् ७४–७५वें वर्ष मे उसके पुत्र विम ने शासन किया जो सम्भव प्रतीत नही होता। अत खलत्से के अभिलेख में भी जिहोणिक के अभिलेख के सम्वत् का प्रयोग मानना ठीक होगा। इस परिस्थिति में विम के शासन का आरम्भ उसके पिता की तक्षशिला विजय से कुछ वर्ष पूर्व रखना पडेगा। कुषाणो मे उत्तराधिकारी के शासन में सयुक्त होने के उदाहरणो को देखते हुए यह असम्भव सम्भावना नही है।

तृतीय परिशिष्ट में माउएस और आर्संसिड वश के सम्बन्ध का विवेचन है। तक्षशिला का वर्ष ७८ का अभिलेख महरय महत मोग के शासनकाल का है। मोग ही सिक्को का मोग्र और माउएस है। वर्ष ७८ जिस सम्वत् का है उसका आरम्भ १३६ ई० पू० से पहले हुआ था।

उसके वामकर मे राजदण्ड लिये खडे ज़ेउस/माला लिये निके प्रकार के सिक्के तक्षशिला क्षेत्र के हैं। उसके "गदा लिये खडे हेराक्लेस/खडा सिंह" वाले सिक्को ने राजुबुल के कई प्रकार के सिक्को को प्रभावित किया है। राजुबुल का शासन तक्षशिला और उसके पूर्व था। अत माउएस के ये सिक्के भी इसी क्षेत्र के रहे होंगे। इन सिक्को पर का एकाक्षर चिह्न उसके "गजसिर/काडुसेअस (Caduceus) दण्ड" प्रकार वाले सिक्को पर भी मिलता है। अत वे भी उसी क्षेत्र के थे। इस प्रकार उसका तक्षशिला की टकसाल अर्थात् सिन्धु-झेलम दोआब पर अधिकार था। उसका क्षत्रपलिअक कुसुलक छुरक्स का शासक था जिसमे तक्षशिला और सिन्धु के पश्चिम का गन्धार का भाग सम्मिलित था। माउएस के "आर्टेमिस/वृषभ" प्रकार के सिक्के आर्टेमिडोरोस के सिक्को पर आधारित हैं जो पेशावर से उपलब्ध हुए हैं। इस प्रकार माउएस के सिक्के सिन्धु के पश्चिम मे गन्धार मे निर्मित हुए थे। उसके "अश्व/प्रत्यचा चढा धनुष" प्रकार के ताँबे के सिक्के आर्संसिड सिक्को पर आधारित हैं। अतएव वे कदाचित् माउएस के राज्य के पश्चिमी भाग मे निर्मित थे जहाँ व्यापार के माध्यम से आर्संसिड सिक्को की

प्राप्ति सहज थी।

गन्धार के पश्चिम माउएस का अधिकार सिद्ध नहीं होता। परोपमिनडे में कपिश पर उसका अधिकार सिक्को के प्राप्ति-स्थान अथवा प्रकार से सिद्ध नहीं होता। अतएव सिमोनेट्टा (Simonetta) का उसके कुछ सिक्को पर के एकाक्षरो को कपिश की टकसाल का कहना सन्देहास्पद है।

माउएस के "पल्लस अथेने" त्रिशूल एवं गदाधारी देवता" तथा "दीपक लिये देवी" प्रकार के सिक्को को मार्शल ने उनकी भद्दी बनावट और खरोष्ठी अक्षरो के भोंडे रूप के कारण अराकोसिआ का बतलाया है। किन्तु यह ग्राह्य नहीं है। सिक्को के दोष ठप्पा बनाने वाले की अयोग्यता के कारण भी हो सकते थे। फिर, वोनोनेस और उससे सम्बन्धित शासक, जिन्होने निश्चय ही अराकोसिआ पर शासन किया, के सिक्के इनमे से किसी प्रकार के नहीं है। यद्यपि अजेस प्रथम और अजिलिसेस के कुछ सिक्को पर, जिन्हे अराकोसिआ से सम्बन्धित कहा गया है, तालपत्र और दीपक लिये देवी की आकृति मिलती है, ये माउस के सिक्को से देवी के स्वरूप, उसके मुकुट, हाथ मे ली हुई वस्तु और टकसाल चिह्न आदि के मामले मे अत्यधिक भिन्न हैं। अत दोनो एक ही प्रदेश या टकसाल मे निर्मित नहीं थे। सिमोनेट्टा ने माउएस के सिक्को के छ टकसाल-चिह्नो को अराकोसिआ का कहा है, किन्तु यह सही नहीं है। ये चिह्न अपोल्लोडोटुस द्वितीय के सिक्को पर और इनमे से ४ हिप्पोस्ट्राटुस के सिक्को पर मिलते हैं, किन्तु ये दोनो ही अराकोसिआ से सम्बन्धित नहीं थे। इसके विपरीत ये चिह्न वोनोनेस और उससे सम्बन्धित शासक, जो अराकोसिआ से सम्बन्धित थे, के सिक्को पर नहीं मिलते।

स्मिथ के अनुसार माउएस पार्थियन राजवंश से सम्बन्धित था, उसने पार्थियन राज-राज विरुद्ध और पार्थियन सिक्को के प्रकार "अश्व" और "खोल मे धनुष" को अपनाया था। किन्तु ये प्रमाण पर्याप्त नहीं हैं। व्यापार के माध्यम से समीपवर्ती क्षेत्र से आये सिक्को के अनुकरण मे भी यह सम्भव है।

माउएस और उसका परिवार पश्चिमोत्तर भारत कैसे पहुँचा यह निश्चित नहीं है। रैप्सन आदि विद्वानो के अनुसार शक सीस्तान से अराकोसिआ और ब्राहुई पर्वतो से होते हुए निचली सिन्धु घाटी पहुँचे जहाँ से वे माउएस के नेतृत्व मे सिन्ध के सहारे पजाब में गये। इस मत की अन्य बातें सम्भव होते हुए भी माउएस का निचली घाटी से सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता।

शको का भारत में दो अन्य मार्गों से प्रवेश ज्ञात है। चइएन-हान-शू के अध्याय ६१ और ९६अ के कुछ उल्लेखो के अनुसार हिउग-नू द्वारा निरस्त होकर यूएह-चिह ने साइ देश पर आक्रमण कर उसकी विजय की। साइ नरेश दक्षिण की ओर बढा। वह हिएन-तू को पार कर चि-पिन पहुँचा। इस ग्रन्थ में चि-पिन उस देश के राजनीतिक अधिकार क्षेत्र का सूचक है जहाँ हिएन-तू होकर पहुँचा जा सकता था और जिसमे पश्चिमोत्तर भारत का कुछ भाग सम्मिलित था। स्टाइन के अनुसार हिएन-तू सिन्धु के किनारे दारेल के दक्षिण से मिरावात तक स्थित था। साई का उच्चारण पहले सेक थे अत ये ही शक थे। किन्तु उल्लेख मे साई (शक) का ता-हिआ से कोई सम्बन्ध नहीं है।

ष्एह-चिह का साई देश पर अधिकार १७४ और १६० ई० पू० के बीच हुआ और साई नरेश दक्षिण की ओर बढा। उसके चि-पिन पहुँचने की तिथि का निर्धारण कठिन है किन्तु यह माउएस की ज्ञात तिथि से बहुत पहले रहा होगा। माउएस के नाम से उसकी शक उत्पत्ति सूचित होती है, वह भी इसी शक शाखा से सम्बन्धित रहा होगा।

शको के भारत में प्रवेश की दूसरी सम्भावना हिन्दुकुश को पार कर थी। फिलास्ट्राटुस ने उल्लेख किया है कि सीथियन लोगो ने काकेशस के पार "इस" देश पर आक्रमण किया था। यद्यपि यह उल्लेख एक आख्यान के सम्बन्ध मे आया है, यह किसी ऐतिहासिक घटना की धु धली स्मृति हो सकती है। "इस" देश से तात्पर्य भारत से है। यदि काकेशस के अन्तर्गत हिन्दुकुश को भी लिया जाय तो यह हिन्दुकुश को पार कर भारत में सीथियन लोगो के आक्रमण का उल्लेख होगा। किन्तु इस आक्रमण की तिथि और इसका ऐतिहासिक महत्त्व निश्चित नही है।

शक आक्रमणो की इन सम्भावनाओ को देखते हुए माउएस को पार्थियन साम्राज्य से सम्बन्धित करना आवश्यक नही है।

चतुर्थ परिशिष्ट मे स्टाथम्वा पार्थिक्वा के रचना-काल का विवेचन है। यह चरक्स के इसीडोर की रचना है। इसमे पार्थियन साम्राज्य के स्थल व्यापार-मार्ग के पडावो का विवरण है। इसमे टिरिडाटेस के द्वारा फ्राटेस के राज्य पर आक्रमण का उल्लेख है। सम्भवत ऐसे आक्रमण दो थे—२६ ई० पू० और २५ ई० पू० मे। अतएव यह रचना २६ ई० पू० के बाद की है।

ग्रन्थ मे अराकोसिआ को पार्थियन साम्राज्य की सीमाओ के भीतर रखा गया है किन्तु इस प्रदेश पर ६/५ ई० पू० अथवा १/२ ई० से २०/२१ ई० के बीच ओर्थग्नेस का स्वतन्त्र अधिकार था जिसके बाद पार्थियन साम्राज्य के अधिकार का सूचक कोई प्रमाण नही है। इसके बाद गोण्डोफारेस प्रथम (२०/२१ ई० से ४५/४६ ई०) का भी अरा-कोसिआ पर कुछ काल तक अधिकार था। अतएव ग्रथ मे उल्लिखित कोई भी सूचना १/२ ई० से पहले की अथवा कुछ वर्षों के बाद की होगी।

प्लिनी के अनुसार ओगुस्टुस ने चरक्स डायोनीसिउस (Dionysius) को अपने ज्येष्ठ पुत्र (जो दत्तक पुत्र के रूप मे स्वीकृत उसका पौत्र ही था) के आर्मेनिआ प्रस्थान करने से पूर्व प्राच्य का विस्तृत विवरण लिखने के लिये भेजा। इसीडोर और डायोनीसिउस के जन्म-स्थान, रचनाकाल और वर्ण्य-विषय की समानता के कारण यह सम्भावना होती है कि प्लिनी के ग्रन्थ की किसी प्रारम्भिक प्रति मे इसीडोरस नाम किसी प्रकार डायोनी-सिउस मे परिवर्तित हो गया।

इसीडोर ने पार्थियन साम्राज्य, विशेषत उसके पूर्वी भाग, के विषय मे सूचना का सग्रह गैउस (Gaius) के १ ई० पू० के अभियान से पूर्व अपनी यात्रा मे किया था। अत. वे सूचनाएँ १ ई० पू० के बाद की नही हो सकती।

पाँचवें परिशिष्ट मे दिखाया गया है कि पश्चिमोत्तर भारत मे राजनीतिक सत्ता के हस्तान्तरण का क्रम साधारणतया यह रहा है-आर्सेसिड, इण्डो-पार्थियन अथवा सीथो-पार्थियन और तत्पश्चात् कुषाण।

तक्षशिला मे आर्सेसिड शासन अजेस द्वितीय के बाद स्थापित हुआ था। आर्ससिड के बाद वहाँ ससन और गोण्डोफारेस प्रथम के सयुक्त सिक्के चले। जून/जुलाई ४६ ई० और ५५ ई० के बीच किसी समय कुषाण नरेश कुजुल कडफिसेस ने फाग्रोटेस को पराजित कर इस प्रदेश पर अधिकार कर लिया था। यह प्रदेश चि-पिन के अन्तगत आता है जिसे हाउ हान-शू के अनुसार चइउ-चिउ-चउएह (= कुजुल कडफिसेस) ने जीता था।

हाउहान-शू के अनुसार ही चि-पिन का विस्तार वू-यि-शान-ली की सीमा तक अर्थात् सीस्तान तक था। अराकोसिआ इसी के अन्तर्गत आता है। अतएव हाउहान शू मे चि-पिन पर यूएह-चिह (कुषाणो) के अधिकार के आधार पर अराकोसिआ पर भी कुषाणो का अधिकार स्वीकृत होता है। अराकोसिआ मे आर्सासिड के बाद क्रमश वोनोनेस, अजेस प्रथम और गोण्डोफारेस के वर्ग के शासको का अधिकार हुआ। कुषाणो ने इनमे से अन्तिम से अराकोसिआ छीना था। यह विजय सरलता से नही प्राप्त हुई थी। पकोरेस (Pakores), जो गोण्डोफारेस के अनुवर्तियो मे से एक था, का नाम और अराकोसिअन प्रकार सोटेर मेगास (जो सम्भवत वइम कडफिसेस ही था) के कुछ सिक्को पर अकित है। यह पकोरेस की प्रारम्भिक सफलता थी। अन्त मे वइम ने अराकोसिआ की विजय की। इसका प्रमाण गोण्डोफारेस के एक ताँबे के सिक्के पर अदवागेही प्रकार का पुनरकन है जो सम्भवत वइम का ही था।

निचली सिन्धु घाटी पर आर्सासिड अधिकार दो बार स्थापित हुआ था। ऐक्ट्स ऑव टामस नामक रचना के अनुसार इण्डिया के देश पर गोन्दोफोर (= गोण्डोफारेस) का शासन था। यहाँ इण्डिया निचली सिन्धु घाटी के लिये प्रयुक्त हुआ है। पेरीप्लुस में सीथिया नाम का प्रयोग इसी अर्थ मे हुआ है। यहाँ भी इस प्रदेश पर परस्पर सघर्षरत पार्थियन राजकुमारो के शासन का उल्लेख है, ये सम्भवत गोण्डोफारेस के अनुवर्ती थे। हाउ हान-शू मे इसी प्रदेश के लिये शेन-तू नाम प्रयुक्त हुआ है, इसकी विजय येन-काओ-चेन (= वइम कडफिसेस) ने की थी। निचली सिन्धु घाटी में आर्सासिड शासन के अन्तिम चरण के बाद गोण्डोफारेस के कुल का शासन स्थापित हुआ किन्तु यह विजय गोण्डोफारेस के समय नही प्राप्त हुई थी। गोण्डोफारेस के कुल को कुषाणो ने निकाला था। इसका समर्थन तक्षशिला के सिरकप क्षेत्र मे उत्तरकालीन सीथो-पार्थियन स्तर से प्राप्त एक घडे में उपस्थित २१ सिक्को से होता है। ये सभी अच्छी चाँदी के है। ये एक ही प्रकार के, एक जैसे आयाम और भार के हैं और इनके पूर्वभाग पर पुरुष ऊर्ध्वशरीर और ग्रीक लेख और पृष्ठभाग पर सिके और खरोष्ठी लेख है, अधिकाश के पृष्ठभाग पर खरोष्ठी का 'भु' टकसाल–चिह्न के रूप में है। इनमें से १३ पर निश्चय ही और ५ पर सम्भवत गोण्डोफारेस का चिह्न है, ऐसे सिक्को में से ८ ससन के, ५ सपेदानेस और ५ सतवस्त्र के कहे गये हैं। सपेदानेस के सिक्को मे से, उन पर मिले लेख के आधार पर, एक को अग और दो को गोण्डोफारेस अथवा गदह्वर का मानना चाहिये। जिन ३ सिक्को पर गोण्डोफारेस का चिह्न नही है उन्हे कुषाण सिक्के कहा गया है, इनमें से एक पर मिले लेख के आधार पर इनको वइम का माना जा सकता है। ये सभी २१ सिक्के अपनी समानताओ के कारण एक ही टकसाल के प्रतीत होते है। बजौर मजूषा

अभिलेख में उल्लिखित विजयमित्र के पुत्र के सिक्को पर भी खरोष्ठी 'भु' का चिह्न मिलने से ह्वाइटहेड ने इन सिक्को को बजौर मे निर्मित माना है। किन्तु इन सिक्को और विजयमित्र के पुत्र के सिक्को मे अनेक महत्त्वपूर्ण भिन्नताएँ हैं, इनके अतिरिक्त विजयमित्र के पुत्र के सिक्को पर 'भु' चिह्न के साथ दूसरे कई चिह्न भी मिलते हैं। अतएव इन सबको एक ही टकसाल में निर्मित नही माना जा सकता। सिरकप के सिक्को को तक्षशिला पुष्कलावती अथवा पश्चिमोत्तर भारत में कही निर्मित मानने में बाधाएँ है। गोण्डोफारेस से पूर्व ही पश्चिमोत्तर भारत में अजेस द्वितीय के समय तक चाँदी के सिक्के अत्यधिक मिलावट वाले हो गये थे और अराकोसिआ मे ओर्थाग्नेस ने कोई चाँदी के सिक्के नही बनाये। हेर्मेउस के नाम वाले चाँदी के सिक्को मे, जो उसकी मृत्यु के बाद बनाये गये, धातु की अशुद्धता क्रमश बढती गई है। पश्चिमोत्तर भारत में राजनीतिक अस्थिरता के कारण लाभ के लिये अनेक अनधिकारिक शक्तियो ने इस प्रकार के सिक्के बनाये। ऐसी परिस्थिति मे ग्रेशम के नियम (Gresham's Law) का लागू होना स्वाभाविक था। शुद्ध चाँदी के सिक्को का स्थान अशुद्ध चाँदी के सिक्को ने ले लिया। यह प्रवृत्ति इतनी मजबूत हो गई थी कि अजेस द्वितीय इसको नही रोक सका और बाद मे कुषाणो ने भी चाँदी के सिक्के नही बनाये। अत गोण्डोफारेस से पूर्व पश्चिमोत्तर भारत और अराकोसिआ अशुद्ध चाँदी के सिक्को के अभ्यस्त हो गये थे, सिरकप से प्राप्त शुद्ध चाँदी के सिक्को का निर्माण इन क्षेत्रो मे नही हुआ होगा। ये सिक्के सम्भवत निचली सिन्धु घाटी मे निर्मित थे जहाँ गोण्डोफारेस के कुल और कुषाणो का अधिकार स्थापित हुआ था। इस क्षेत्र पर माउएस और अजेस प्रथम के कुलो का अधिकार नही था, अत यहाँ अशुद्ध चाँदी के सिक्को का प्रचलन न होने से सिक्के अपनी धातु के मूल्य के आधार पर स्वीकृत होते थे, इनसे शुद्ध चाँदी के सिक्को के निर्माण की अपेक्षा थी। इस मत का समर्थन इस बात से होता है कि शुद्ध चाँदी के ऐसे दो सिक्के सिन्ध मे सैदपुर स्तूप के उत्खनन से प्राप्त हुए है, तक्षशिला से बाहर ऐसे केवल यही दो सिक्के उपलब्ध हुए हैं। निचली सिन्धु घाटी मे इन सिक्को का निर्माण मानकर हम इनके आधार पर इस क्षेत्र मे भी कुषाणो के द्वारा गोण्डोफारेस के कुल का अधिकारच्युत होना स्वीकार कर सकते हैं।

डा० मुखर्जी का यह ग्रन्थ अपने विषय पर प्रथम प्रयास होने ही के कारण सराहनीय नही है। लेखक ने विषय से सम्बन्धित सभी प्रकार की सामग्री का बडे परिश्रम से सकलन किया है और उसकी सूक्ष्म एव विद्वतापूर्ण विवेचना करके ऐतिहासिक सरचना की है। अतएव यह ग्रन्थ दीर्घकाल तक प्रामाणिक शोध के रूप मे भी स्वीकृत होगा। इससे पूर्व भी अन्यत्र हमने लेखक के शोध-कार्यों की विशेषता के विषय मे बतलाया है कि लेखक ने किस प्रकार अपने मतो को गहन अध्ययन, प्रभूत सामग्री और विविध प्रकार के तर्कों से पुष्ट किया है। उदाहरण के लिये पचम परिशिष्ट के एक कथन के समर्थन मे टिप्पणी स० ७५ दी गई है, जिसमे १० पृष्ठ की सामग्री है, इसमे उल्लेख और निर्देश के साथ ही स्थान-स्थान पर व्याख्यात्मक टिप्पणी भी दी गई है। ग्रन्थ मे तथ्यो और तर्कों की अधिकता के कारण अनेक स्थल दुरूह और बोझिल लगते है, किन्तु यह कुछ शोध-प्रबन्धों

मे अपरिहार्य हो जाता है। प्रस्तुत विषय मे कई छोटे-छोटे तथ्य इतने विवादास्पद है कि लेखक को एक मत प्रस्तुत करने के लिये उसके आधार के लिये अनेक तथ्यो की पहले प्रस्थापना करनी पडी है, कही कही पर तथ्यो और तर्कों की यह शृखला बहुत अधिक लम्बी हो गई है। अपने विशद अध्ययन के कारण लेखक ने जो तथ्यो का भण्डार एकत्रित किया है उसके प्रति लेखक की बौद्धिक ईमानदारी ने दूसरा विकल्प नही रहने दिया, विषय के प्रति न्याय करने मे विवरण मे इससे अधिक सरलीकरण सम्भव भी नही है।

लेखक की दूसरी असुविधा प्रमाणो के स्वरूप के कारण है। प्रमाणो से प्राप्त सूचनाएँ छुटपुट है, उनसे क्रमबद्ध इतिहास नही प्राप्त होता। अधिकाश प्रमाणो की सूचनाएँ सक्षिप्त और अस्पष्ट होने के कारण विवादास्पद है। प्रस्तुत शोध की ये समस्याएँ इसके प्रमुख प्रमाण मुद्राओ के सम्बन्ध मे और भी अधिक उभरी हुई हैं। मुद्रा-शास्त्रीय प्रमाण की अपनी सीमाए हैं, यह अधिक मुखर नही हो सकता। अपने शोध-कार्य मे लेखक ने मुद्राओ के प्रकार, उन पर उत्कीर्ण लेख, लेख की भाषा और लिपि, एकाक्षरी टकसाल-चिह्न, सिक्को का पुनरकन, उनका प्राप्ति-स्थान, भाण्डो मे सिक्को की उपस्थिति, सिक्को के धातु की शुद्धता आदि का शास्त्रीय विश्लेषण किया है। किन्तु इन सबके विषय मे सम्भव है कही-कही व्याख्या की एक से अधिक सम्भावनाओ के कारण निष्कर्ष की निश्चितता इतिहास के साधारण विद्यार्थी को ग्राह्य प्रतीत न हो। वास्तव मे ऐतिहासिक पुनर्निर्माण मे तथ्यो की व्याख्या मे कल्पना का सहारा लेना ही पडता है, किन्तु कल्पना का उपयोग औचित्य की सीमा के भीतर कहाँ तक हो सकता है इसके सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतैक्य की अपेक्षा करना सिद्धान्तत ग्राह्य होने पर भी व्यवहार में सदैव प्रतिपाद्य नही है। टार्न ने इतिहास-रचना मे कुछ स्थलो पर शुष्क तथ्यो को कल्पना से रग कर सजीव रूप दिया है किन्तु उनके विवरण को अन्य विद्वानो का अनुमोदन नही प्राप्त हुआ। डा० मुखर्जी ने अपने शोध-कार्य मे कल्पना के अश को यथासम्भव वैज्ञानिक परिधि मे ही रखा है।

अन्त मे यह स्वीकार करना होगा कि अपने इस ग्रथ के द्वारा डा० मुखर्जी ने इण्डो-पार्थियन इतिहास की अनेक गुत्थियो को सुलझाकर उसका क्रमबद्ध और प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत किया है। उन्होने सफलतापूर्वक दिखलाया है कि प्रसिद्ध पार्थियन वश (जो आर्मसिड वश के नाम से प्रसिद्ध है) ने पश्चिमोत्तर भारत के इतिहास मे, सीमित काल के लिये ही नही, महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। इस वश के अतिरिक्त इसी क्षेत्र मे कुछ सीथो-पार्थियन वश भी थे। इनके इतिहास को भी डा० मुखर्जी ने स्पष्ट और सयत किया है।

आशा है इस ग्रन्थ के आधार पर अन्य शोधकर्ता इण्डो-पार्थियन इतिहास की अनेक समस्याओ पर प्रकाश डालेंगे। इस क्षेत्र मे सम्भावनाओ का सकेत इसी बात से होता है कि बॉल्टन डॉविन्स ने भारतीय मुद्रा परिषद् से प्रकाशित अपने शोध-प्रबन्ध शक, पह्लव क्वायनेज (वाराणसी, १९७३) मे इण्डो-पार्थियन सिक्को पर प्राप्य टकसाल-चिह्नो का सूक्ष्म-विवेचन करके महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले है।

प्राचीन भारतीय इतिहास, सस्कृति
एव पुरातत्त्व विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-5

औरंगजेब के अन्तर्गत मुग़ल उमराव-वर्ग

राधेश्याम

समय के साथ-साथ इतिहास मे भी विविध विषयो पर शोधकार्य होता रहा है। प्रारम्भ मे शोधकर्ताओ एव इतिहासकारो का ध्यान मुख्यत शासको के क्रिया-कलापो तथा उनकी राजनीतिक एव सास्कृतिक उपलब्धियो की ओर लगा रहा। कालान्तर मे उनका ध्यान प्रशासन की ओर गया। तदुपरान्त सामाजिक एव आर्थिक सस्थाओ की ओर। आज भी इन्ही विषयो पर उत्तरी भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयो मे शोधकार्य हो रहा है। कुछ वर्षों पूर्व शासक वर्ग से हटकर शासित वर्ग की स्थिति जानने की इच्छा के कारण कही-कही इन विश्वविद्यालयो मे शोधकार्य प्रारम्भ किया गया। जो भी कुछ कार्य इस दिशा मे हुआ है वह बहुत ही उपयोगी एव सराहनीय है।

मध्यकालीन भारत के शासक वर्ग मे उमराव-वर्ग का एक विशिष्ट स्थान था। उमराव-वर्ग की सरचना, सगठन एव उसके विविध पहलुओ की व्याख्या शोधकार्य के लिए बहुत ही उपयुक्त विषय समझा गया। सल्तनत काल मे उमराव-वर्ग पर हाल ही मे डा एस वी पी निगम की पुस्तक, 'नोबिलिटी अण्डर दि सुल्तान्स आव देहली' (दिल्ली, १९६८) प्रकाशित हुई। उक्त विषय पर यह बहुत ही रोचक एव महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें कि सल्तनतकाल मे उमराव-वर्ग, उसकी सरचना एव सगठन, उमराव-वर्ग के विभिन्न तत्त्वों के क्रिया-कलापो एव योगदान तथा अमीरो के रहन-सहन आदि पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। मुगल साम्राटो के अन्तर्गत उमराव-वर्ग पर सर्वप्रथम कार्य इलाहाबाद यूनीवर्सिटी के मध्यकालीन एव आधुनिक इतिहास विभाग मे प्रारम्भ हुआ। डा सतीशचन्द्र ने डा रामप्रसाद त्रिपाठी के सरक्षण मे उत्तरोत्तर औरगजेब काल मे मुगल दरबार मे दल एव दलबन्दी पर कार्य किया। उनका प्रकाशित ग्रन्थ, दि पार्टीज़ एण्ड पौलिटिक्स ऐट दि मुगल कोर्ट' का न केवल शोध-छात्रो ने वरन् वरिष्ट इतिहासकारो ने भी स्वागत किया। श्री पी० के० अवरोल ने बाबर और हुमायूँ के अन्तर्गत उमराव-वर्ग पर शोध प्रवन्ध 'नोबिलिटी अण्डर बाबर एण्ड हुमायूँ" शीर्षक के अन्तर्गत डी० फिल० उपाधि के लिए प्रस्तुत किया और उन्हें इस विषय पर उक्त उपाधि प्राप्त हुई। किन्तु किन्ही कारणो से यह शोध-निबन्ध अभी तक ग्रन्थ के रूप मे प्रकाशित नही हो सका है। इससे पूर्व अकबर से लेकर शाहजहाँ तक उमराव-वर्ग पर शोधकार्य होता, डा० अहतर अली ने डा० सतीशचन्द्र के सरक्षण मे औरगजेब के अन्तर्गत मुगल उमराव-वर्ग पर काय प्रारम्भ किया और उक्त

* दि मुगल नोबिलिटी अण्डर औरगजेब, लेखक—अहतरअली, एशिया पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली से १९६६ में प्रकाशित।

विषय पर शोध-प्रबन्ध तैयार कर अलीगढ मुस्लिम विश्वविद्यालय से डी० फिल की उपाधि १९६१ मे प्राप्त की। इस शोध-निबन्ध का प्रकाशन ग्रन्थ के रूप मे १९६६ में हुआ। इस विषय के चयन का मुख्य कारण, औरंगजेब के सम्बन्ध मे भ्रान्तियो, जोकि सर जादुनाथ सरकार तथा अन्य इतिहासकारो ने उत्पन्न की, का निवारण करना रहा होगा। कुछ भी हो, ऐसे गम्भीर विषय का चयन और उस पर उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री की सहायता से शोध कार्य मे वास्तविकता को सामने रखना, दोनो ही डा अतहर अली साहब की अद्वितीय सूझबूझ एव बौद्धिक प्रतिभा का प्रभाव प्रस्तुत करती है।

दि मुगल नोबिलिटी अण्डर औरंगजेब' (औरंगजेब के अन्तर्गत मुगल उमराव-वर्ग), में भूमिका के साथ सात अध्याय हैं और अन्त मे उपसहार भी है। प्रस्तुत ग्रन्थ की व्यवस्था इस प्रकार है—भूमिका—पृ० १–७, प्रथम अध्याय—उमराव वर्ग की सांख्यिक शक्ति और उसकी सरचना। पृ० ७–३८, द्वितीय अध्याय–उमराव-वर्ग का सगठन, मन्सब, वेतन और सेवा की मान्यताएँ—पृ० ३८–७४, तृतीय अध्याय—जागीरदारी प्रथा और उमराव-वर्ग पृ० ७४–९५, चतुर्थ अध्याय—अमीर एव राजनीति पृ० ९५–१३६, पचम अध्याय—अमीर एव प्रशासन–पृ० १३६–१५४, छठा अध्याय—अमीर एव आर्थिक जीवन—पृ० १५४–१६१, सातवा अध्याय—अमीरो के प्रतिष्ठान—पृ० १६१–१६६, उपसहार–पृ० १७१–७५। इसके अतिरिक्त उक्त ग्रन्थ मे कई महत्वपूर्ण परिशिष्टिया है, जिनमे कि १००० और उससे ऊपर के, १६५८–१६७८ तथा १६७९–१७०७ के मध्य के अमीरो के नाम, उनकी जाति एव कुल उल्लिखित हैं। ग्रन्थ के अन्तिम कुछ पृष्ठो मे आधार-ग्रन्थो की सूची एव अनुक्रमणिका दी गई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की भूमिका मे डा अतहर अली ने पाठको का ध्यान विषय से सम्बन्धित कई महत्त्वपूर्ण बातो की ओर आकृष्ट किया है ताकि वे विषय की गहराई मे पहुँच सके। अतएव प्रस्तुत ग्रन्थ मे दी गई भूमिका का विवरण देना यहाँ बहुत ही आवश्यक है। आमतौर पर यह कहा जाता है कि भारतीय ऐतिहासिक ग्रन्थो मे शासित-वर्ग पर तनिक भी ध्यान नही दिया गया, लेकिन यही बात शासक-वर्ग के बारे मे पूर्णत सिद्ध होती है। इसमें तनिक भी सन्देह नही कि भारतीय सम्राटो पर अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध हैं और उनके वशजो के बारे मे भी प्रकाशित ग्रन्थों की कोई कमी नही हैं, लेकिन इन ग्रन्थो मे हमे शासक-वर्ग, चाहे शासक कितने निरकुश ही क्यो न हो, के एक ही पक्ष का विवरण प्राप्त होता है। शासक वर्ग, जिसमें कि शासक के अमीर एव अधिकारी भी सम्मिलित थे, का यह दूसरा भाग जोकि शासक का दांया हाथ कहा जा सकता था, भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि शासक स्वय। अतएव इस ओर भी ध्यान देने की बडी आवश्यकता है। शासक-वर्ग मे इस वर्ग की सरचना, सगठन, उसकी परम्पराएँ एव आकाक्षाए उतनी ही महत्त्वपूर्ण हैं जितनी कि व्यक्तिगत सम्राटो का चरित्र एव उनकी नीतिया। प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय, जैसाकि ग्रन्थ के शीर्षक से स्पष्ट है, केवल भारतीय साम्राज्य के सम्राटो मे से अन्तिम महान् सम्राट के अन्तर्गत उमराव-वर्ग है अतएव सम्पूर्ण मध्यकाल या मुगलकाल के उमराव-वर्ग की स्थिति की विवेचना विषय से परे है। विषय को औरंगजेब के राज्यकाल तक ही सीमित रखने के कई कारण थे। मुगल

साम्राज्य का पतन उसी की आँखो के सामने प्रारम्भ हुआ और उसके उत्तराधिकारियों के अन्तर्गत पतन की क्रिया-गति पकडने लगी। पतन के भी विविध कारण थे। उनमे से एक कारण था भारतीय समाज का शिथिल होना। पश्चिम मे जबकि योरोपीय समाज जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे इसी समय प्रगति कर रहा था, भारतीय समाज न केवल पतन की ओर उन्मुख हो रहा था वरन् प्रगति के उस शिखर तक जहाँकि इससे पूर्व पहुँच चुका था वहाँ से भी उसने पीछे की ओर हटना प्रारम्भ कर दिया था। इस राजनीतिक एव सामाजिक पतन के क्या कारण थे ? इन कारणो को जानने के लिए मुग़ल साम्राज्य की व्यवस्था के सभी तत्त्वो का परीक्षण करना नितान्त आवश्यक है। इन सब तत्त्वो मे से सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व शासक वर्ग या उमराव-वर्ग था। इस सम्बन्ध मे उमराव-वर्ग की प्रकृति एव उसके क्रियाकलापो का परीक्षण करना उपयुक्त होगा। मुगल उमराव-वर्ग का विशेषकर औरगज़ेब (१६५६-१७०७) के काल मे, अध्ययन करना इसलिए भी प्रमुख उद्देश्य बन गया कि जिससे कि सस्थाओ एव परम्पराओ, जोकि उसके सरचना तथा नीतियो को रूपरेखा प्रदान करती थी, का विवरण दिया जा सके तथा यह बताया जा सके कि उनका उमराव-वर्ग पर कितना अधिक प्रभाव पडा था उस प्रभाव के ही कारण उमराव-वर्ग ऊपर उठा ताकि किसी प्रकार की भ्रान्ति उत्पन्न न हो, डा० अतहरअली ने 'अमीर' शब्द की परिभाषा भी भूमिका ही मे दे दी है। उनके अनुसार मुगलकाल मे अमीर वे ही व्यक्ति कहे जाते थे जोकि १००० और उससे ऊपर के पदो पर आसीन थे अर्थात् उच्च-पदो पर आसीन अधिकारी-वर्ग। अतएव प्रस्तुत ग्रन्थ मे केवल उन्ही मनसबदारो को ध्यान मे रक्खा गया जोकि १००० और उसके ऊपर के मनसबदार थे, क्योकि शासक वर्ग मे उनका स्तर और उनकी आय ही कुछ माने रखती थी तथा इन्ही का बोलबाला था। इस उमराव-वर्ग का सरचन और उसके आकार पर भी कुछ विवाद किया गया, किन्तु वह न तो इतना विस्तृत है और न ही त्रुटियो से मुक्त। डा० अतहरअली ने स्वय इस ओर सकेत करते हुए कहा है कि निम्नलिखित प्रश्नो के स्पष्टीकरण की अभी आवश्यकता है—विभिन्न कालो मे कितने अमीर थे ? किस दर से उनकी सख्या मे वृद्धि हुई ? उनकी सख्या मे वृद्धि का प्रभाव, उनकी आय तथा उनके आन्तरिक ससक्ति पर क्या पडा ? उमराव-वर्ग के आन्तरिक ससक्ति के सम्बन्ध मे हमे उनके वर्ग एव उनकी जातियो, जिससे कि मुगल उमराव वर्ग निर्मित हुआ का अध्ययन करना है और विशेपतौर से विदेशियो की स्थिति (विदेशियो के वशजो की भी) तथा हिन्दुस्तानियो एव दो मुख्य, हिन्दू एव मुस्लिम जातियो के अनुचरो की भी स्थिति का ध्यान रखना है। इन प्रश्नो का उत्तर देते समय विशेपतौर से अन्तिम दो प्रश्नो का, आजकल की भावना एव द्वेष दोनो ही बुरे परामर्शदाता सिद्ध होगे। अतएव, इन प्रश्नो का उत्तर देने के लिये, समकालीन इतिहासकारो के कथनो और उनके द्वारा दिये गये विवरण तथा जीवन-चरितो से प्राप्त १००० और उससे ऊपर के मनसबदारो के सम्बन्ध मे प्राप्त जानकारी को एकत्र कर उसका प्रयोग किया गया है। यह जानकारी साख्यिकी ढग से सामने रक्खी गई है और यदा-कदा आँकडो की तुलनात्मक विवेचना भी की गयी है। मनसबदारी प्रणाली की परिधि मे मुगल उमराव-वर्ग की सरचना हुई। आधुनिक

शोध-कार्य ने मनसब प्रणाली के आवश्यक तत्त्वों पर अधिक प्रकाश डाला है। हमें यह मालूम है कि प्रत्येक अफसर को ज़ात व सवार मनसब दिये जाते थे, जोकि अधिकारी-वर्ग में उसका स्थान निर्धारित किया करते थे। मोरलैण्ड ने तथा अब्दुल अज़ीज़ ने विशेष रूप से यह बताया है कि ज़ात मनसब अमुक अफसर के निजी-स्तर का तथा परिमित तालिकाओं के अनुसार उसके निजी वेतन का द्योतक था और उस अफसर का सवार मनसब इस बात का द्योतक था कि वह कितने सैनिक रखेगा तथा उन सैनिकों को रखने के लिए उसे कितना धन प्राप्त होगा। इन सब तथ्यों के बाद भी बहुत-सी ऐसी बातें हैं जिन पर किसी ने भी प्रकाश नहीं डाला। प्रस्तुत विषय अन्य तथ्यों का अध्ययन करने तथा औरंगज़ेब के अन्तर्गत मनसबदारी प्रणाली किस प्रकार चला करती थी उसका सही ढंग प्रस्तुत करने के उद्देश्य से ही लिया गया है। मुगल अमीरों को या तो नकद वेतन दिया जाता था या विभिन्न प्रदेशों, (जागीरों) का लगान उन्हें सौंप दिया गया था। यहां यह परीक्षण करने की चेष्टा की गई है कि जागीरदारी प्रथा के विभिन्न तथ्य औरंगज़ेब के अन्तर्गत ज्यों के त्यों बने रहे, उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन हुआ या उसमें किसी प्रकार की गड़बड़ी उत्पन्न हुई। बर्नियर का कथन कि जागीरों के स्थानान्तरण से किसानों पर अत्याचार होने लगा तथा वे निर्धन हो गये, का समर्थन कुछ आधुनिक इतिहासकारों ने किया है। औरंगज़ेब के राज्यकाल से सम्बन्धित प्रमाणों के आधार पर इस विषय का पुनः निरीक्षण करना आवश्यक है। ज़मींदारों का तत्कालीन राजनीति में विशिष्ट स्थान था। वे सरदार थे, उनका भूमि पर विशिष्ट अधिकार था तथा उसके उत्पादन पर भी उनका पूर्ण अधिकार था। अतः जमींदार-वर्ग और मुगल उमराव-वर्ग के मध्य किस प्रकार के सम्बन्ध थे, उनका भी परीक्षण करना आवश्यक है। मुगल शासक-वर्ग में ज़मींदार-वर्ग से उत्पन्न वर्ग और मुगल उमराव-वर्ग का उसके प्रति कैसा दृष्टिकोण था, आदि ऐसे कुछ प्रश्न हैं जिनका स्पष्टीकरण करना आवश्यक है। चूँकि औरंगज़ेब के ही काल में जमींदारों ने साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह किया तथा विद्रोहों की ज्वाला चारों ओर उन्हीं के कारण फैली। इस दृष्टि से इन प्रश्नों का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। औरंगज़ेब ने ५० वर्षों तक राज्य किया। विभिन्न राजनीतिक समस्याओं पर उसने नीतियाँ बनाईं और इन नीतियों का प्रभाव उमराव-वर्ग पर बिना पड़े हुए नहीं रह सका। औरंगज़ेब का उमराव-वर्ग के विभिन्न उपवर्गों के प्रति कैसा दृष्टिकोण था? यह भी एक महत्त्वपूर्ण विषय है। राजपूतों के प्रति उसकी नीति किस प्रकार की थी? राजपूत नीति से सलग्न उसकी धार्मिक-नीति के कारण प्रस्तुत ग्रन्थ में राजपूत-नीति के विकास एवं औरंगज़ेब की राजपूतों के प्रति नीति को सही ढंग में प्रस्तुत करने का यत्न किया गया है। औरंगज़ेब के शासनकाल में मुगल-राजनीति में दक्षिण की समस्या बहुत ही महत्त्वपूर्ण बन गई। दक्षिण के प्रति जिस नीति का अनुसरण किया गया, उस नीति के प्रति अमीरों का कैसा दृष्टिकोण था, यह भी एक रोचक विषय है। औरंगज़ेब के जीवन के अन्तिम २५ वर्षों में जबकि वह बुरी तरह दक्षिण में फँस गया और उसने समस्त दक्षिण को मुगल साम्राज्य में विलय करने का दृढ़-सकल्प किया, तो उमराव-वर्ग के सम्मुख नई-नई कठिनाइयाँ एवं भाग्योदय के लिए अवसर आये। इन विषयों के अध्ययन से,

औरगज़ेव के अन्तर्गत जिस प्रकार उमराव-वर्ग मे भीतर ही भीतर पतन होने लगा था, को समझने मे आसानी होती है। अमीरो के रहन-सहन, आर्थिक जीवन एव प्रशासन में उनके कार्यों का अध्ययन करने की भी बडी आवश्यकता है। इस सम्बन्ध मे दो महत्त्वपूर्ण प्रश्नो का उत्तर ढूँढ निकालना नितान्त आवश्यक है – (१) कि हम किस प्रकार मुगल अमीरो को सुसचालित प्रशासन का आधारभूत कह सकते हैं ? और किस सीमा तक उमराव-वर्ग ने अपने व्यय, धन का प्रयोग या अपने व्यवहार द्वारा आर्थिक-विकास में सहायता एव बाधा पहुँचाई ?

इस प्रकार डा० अतहर अली ने भूमिका ही मे शोध विषय की परिधि का न केवल आभास ही दे दिया वरन् उक्त विषय से सम्बन्धित जिन अन्य विषयो की ओर उनका ध्यान गया तथा जिन पर उन्होंने छानबीन की उनकी ओर भी पाठको का ध्यान आकृष्ट करने मे तनिक भी कसर न उठा रक्खी। वास्तव मे उनके शोध का सार प्रस्तुत ग्रन्थ की भूमिका मे ही है।

प्रथम अध्याय मे लेखक ने उमराव-वर्ग की सरचना एव उसकी सांख्यिक शक्ति को बताने की चेष्टा की है। मुगल साम्राज्य मे मनसबदार ही एक-मात्र शासक-वर्ग था। इस शासक-वर्ग मे वे सभी लोग आते थे जोकि विभिन्न मनसबो पर आरूढ थे। उदाहरणार्थ–सभी अमीर अधिकारी, सैनिक एव असैनिक आदि। औरगज़ेव के अतर्गत उमराव-वर्ग के आकार एव उसकी सरचना को भलीभाँति समझने के लिए केवल १००० और उससे ऊपर के मनसबदारो को ही ध्यान मे रखा गया, क्योकि इन्ही श्रेणियो के मनसबदार अमीर कहे जाने के अधिकारी थे। इन अमीरो की कितनी सख्या थी ? यह मालूम करने के लिए डा० अहतरअली ने पहले शाहजहाँ के काल मे मनसबदारो की सख्या का विवरण प्रस्तुत किया है। अब्दुलहमीद लाहौरी के अनुसार शाहजहाँ के राज्य-काल के २० वे वर्ष ८००० मनसबदार, ७००० अहदी तथा बस्तबन्द तोपची थे, जिन्हें सम्राट की ओर से सीधे वेतन मिलता था। जबकि जवाबित-ए–आलमगीरी के अनुसार औरगजेव के शासनकाल मे सम्भवत १६६० के कुछ पूर्व–१४,४४६ मनसबदार, अहदी (दो अस्पा सेह अस्पा) बन्दूकची और अनुचर थे। इनमे से ७४५७ मनसबदारान–ए–नकदी तथा ६९९२ जागीरदार थे। इस प्रकार यदि हम अहदियो आदि जिन्हे कि नकद वेतन मिलता था, को जवाबित द्वारा दी गई मनसबदारो एव अहदियो की कुल सख्या में से निकाल दे, तो १६६० मे औरगजेव के अन्तर्गत ८००० से अधिक मनसबदार नही होंगे। अखबारात व आलमगीरनामा तथा अन्य ऐतिहासिक स्रोतो से मनसबदारो के सम्बन्ध में सूचना एकत्र करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि औरगज़ेव के राज्यकाल के प्रथम अन्तराल (१६५८–७८) मे ५००० और उसके ऊपर के ५१ मनसबदार, ३००० से ४५०० के मनसबदार, १००० से २७०० तक के ३४५ मनसबदार थे। इस प्रकार १००० से लेकर ५००० के मनसब तक प्रथम अन्तराल मे ४८६ मनसबदार थे। औरगज़ेव के शासनकाल के द्वितीय अतराल मे (१६७९–१७०७) ५००० और उसके ऊपर के ७९ मनसबदार, ३००० से ४५०० के १३३ मनसबदार, तथा १००० से २७०० तक के ३६३ मनसबदार थे। इस प्रकार द्वितीय अन्तराल मे १००० से ५००० हजार तक के मनसबदारो की कुल सख्या

५७५ थी। अन्य शब्दो मे ५००० के मनसबदारो की सख्या मे प्रथम अन्तराल की अपेक्षा द्वितीय अन्तराल मे ५६ प्रतिशत की वृद्धि हुई, ३००० से ४५०० के मनसबदारो की सख्या मे ४८ प्रतिशत की वृद्धि हुई तथा १००० से २७०० तक के मनसबदारो की सख्या मे बहुत ही कम वृद्धि हुई। उच्च मनसबो के मनसबदारो की सख्या मे वृद्धि होने का एक-मात्र कारण औरंगज़ेब के राज्यकाल के उत्तरार्द्ध मे दक्षिण मे निरन्तर मराठो तथा बीजापुर व गोलकुण्डा के राज्यो के साथ सघर्ष का होना था और इस सघर्ष के दौरान सदैव इस बात की चेष्टा की गई कि किसी भी भाँति मराठो एव दक्खिनी अमीरो को उच्च मनसब प्रदान कर उन्हे अपने पक्ष मे कर लिया जाय। उच्च मनसबो को देने के कारण जागीरो मे कमी हो गई और मनसबदारी प्रथा मे सकट उत्पन्न हो गया। स्थिति इतनी गम्भीर हो गई कि एक बार तो औरंगज़ेब के मन्त्रियो ने उच्च मनसब न देने का फैसला किया, किन्तु राजनीतिक आवश्यकताओ के दबाव के कारण वे ऐसा न कर सके।

सैद्धान्तिक रूप से मुगल उमराव-वर्ग की रचना सम्राट ही किया करता था। किसी व्यक्ति को मनसब प्रदान करने, उसमे वृद्धि करने या उसे घटाने या वापिस लेने का केवल उसी को अधिकार था। यह सोचना भ्रमात्मक होगा कि मुगल उमराव-वर्ग के द्वार सभी व्यक्तियो के लिये खुले थे या कोई भी व्यक्ति जिसमे कि योग्यताएँ हो उमराव-वर्ग मे प्रविष्ट हो सकता था। मनसबदार केवल राज्य के नौकर ही न थे वरन् साम्राज्य मे समृद्धशाली वर्ग के प्रमुख सदस्य थे। साधारण व्यक्ति के पास चाहे जितने ही गुण क्यों न हो, उसके लिए उमराव-वर्ग मे स्थान प्राप्त करना कठिन था। औरंगज़ेब के काल में इस उमराव-वर्ग मे विभिन्न नाम उल्लेखनीय है। उमराव-वर्ग मे कुछ ऐसे भी अमीर थे जोकि यद्यपि कुलीन वश के न थे, फिर भी उनकी प्रशासनिक योग्यता या मुशियो के परिवार उदाहरणार्थ खत्री एव कायस्थ होने के कारण उन्हे इस वर्ग मे प्रवेश मिल गया। आमतौर पर उन्हे वित्तीय-विभाग मे नियुक्त करते समय सम्राट उन्हे निम्न श्रेणी के मनसब प्रदान कर दिया करते थे। कालान्तर में वे स्वय अपनी प्रतिभा एव योग्यता के कारण उच्च मनसब पर पहुँच गये। ऐसे लोगो मे राजा रघुनाथ का नाम उल्लेखनीय है। औरंगज़ेब के राज्यकाल के प्रारम्भ मे उसे दीवान नियुक्त किया गया और धीरे-धीरे वह ३०००/७००० के पद पर पहुँच गया। इस श्रेणी के अमीरो की गिनती अलग ही हुआ करती थी। प्रथम अन्तराल (१६५६-१६७८) मे १००० और उसके ऊपर के ४८६ मनसबदारों मे "दूसरे हिन्दुओ", जिस शीर्षक से डा० अतहरअली ने इस श्रेणी के अमीरो को सम्बोधित किया है, की सख्या ७ थी। १६७९-१७०७ मे, मनसबदारो की कुल ५७६ सख्या मे से उनकी सख्या बढकर १३ हो गई। इन लोगो के अतिरिक्त उमराव वर्ग में विद्वानो, धार्मिक व्यक्तियो, धर्मशास्त्रियो एव साहित्यकारो, वैद्यको तथा सगीतज्ञो का जिन्हे भी मनसब प्रदान किये जाते थे, भी विशिष्ट स्थान था।

इस प्रकार के मुगल उमराव-वर्ग, जिसमे कि १००० जात और उसके ऊपर की विभिन्न श्रेणियो के मनसबदार थे, मे अनेक जातीय एव धार्मिक उपवर्ग विद्यमान थे। अकबर के काल के अन्त तक यह उपवर्ग पूर्णरूप से विकसित हो चुके थे। यह उपवर्ग, उदाहरणार्थ, ईरानी, तुरानी, अफगान, शेखज़ादे (भारतीय मुसलमान, जिसमे अनेक उपवर्ग

सम्मिलित थे) राजपूत, दक्खिनी, बीजापुरी, हैदराबादी, मराठे एव हब्शी जाति एव धर्म पर आधारित थे। शाहजहाँ के राज्यकाल के अन्तिम वर्षों मे मुगल उमराव के वर्ग की मिली-जुली प्रकृति का चन्द्रभान ब्राह्मन ने जो विवरण दिया है उससे मालूम होता है कि उसमे कितने जातीय तत्त्व विद्यमान थे। उसके अनुसार, "विभिन्न जातियो मे से, अरब, ईरान, तुर्क, ताजिक, खुर्द, लार, तातार, रूसी, हब्शी, सीरिया के निवासी, ईराकी, कारकेशियन आदि तथा रूम (टर्की), मिस्र, सीरिया, ईराक, अरब, फारस, गीलान, मन्नदरान, खुरासान, सीस्तान, ट्रान्सआक्सियाना, ख्वारिज्म, किपचक की मरुभूमि, तुर्किस्तान, कारिगिस्तान, कुरदिस्तान से विभिन्न वर्गो तथा उपवर्गो से एव विभिन्न जातियो के लोग, हिन्दुस्तान आये और उन्होने शाही दरबार मे शरण ली। इसी प्रकार से हिन्दुस्तान के निवासियो मे, कलम व तलवार के सिपाहियो मे से भक्करी, बुखारी, सैय्यद, कुलीन वश के शेखजादे, अफगान कबीलो मे से लोदी, रोहिला, स्वेरणी, यूसुफजई आदि तथा राजपूतो के कुलो मे राना, राजा, राव, रायान जैसेकि राठौर, सिसौदिया, कछवाहा, हाडा, गौड, चौहान, झाला, चन्द्रावत, जादौन, तवर, बघेला, वैश्य, बदगूजर, पनवर, भदौरिया, सौलकी,बुन्देल, सेखवट आदि के अतिरिक्त गक्खर, लगर, खोखर, बलूच तथा अन्य जाति के लोग और उनके अतिरिक्त कर्नाटक, बगाल, आसाम, उदयपुर, श्रीनगर, कुमायूँ, बान्धो, तिब्बत, किश्तावर आदि स्थानो के लोग अहदी से लेकर १००, १०० से १०००, १००० से ७००० के पदो पर आसीन थे। इन विभिन्न जातियो के लोगो की शाही सेवा मे भर्ती किसी पूर्वकल्पित नीति के आधार पर नही हुई वरन् आवश्यकताओ एव ऐतिहासिक परिस्थितियो के अनुसार होती रही। प्रशासन केवल प्रत्येक जातीय वर्गों की प्रकृति एव स्वरूप का आदर करता रहा तथा अमुक वर्ग मे मनसबदार अपने पद के अनुसार कितने सैनिक अपनी जाति के रक्खेगे का निर्धारण करता रहा। कुछ भी हो उमराव-वर्ग की एकता मे विविधता थी और यह विविधता कभी-कभी विभिन्न जातीय वर्गों मे तनाव उत्पन्न करने की शक्ति रखती थी। तनाव का एक कारण पारस्परिक द्वेष भी था। अकबर के काल से ही इस पारस्परिक द्वेष की झलक कभी-कभी हमे मिलती है। उदाहरणार्थ, १५८१ मे इसी द्वेष पर ही मिर्जा हाकिम की आशाएँ केन्द्रित रही। उसे आशा थी कि ईरानी व तूरानी अकबर का साथ छोडकर उसके पक्ष मे हो जायेंगे और इस प्रकार अफगान और राजपूतो को कुचलकर रख दिया जावेगा। जहाँगीर के राज्यकाल के प्रारम्भिक वर्षों मे मिर्जा अजीज कोका के विचारो मे हमे एक जातीय वर्ग दूसरे के प्रति द्वेष की झलक मिलती है। उसका कहना था कि सम्राट चागताइयो एव राजपूतो के विरुद्ध है तथा खुरासानियो और शेखजादो पर विशिष्ट कृपाएँ कर रहा है। औरगजेब के समय मे भी विभिन्न जातीय वर्गों मे इस प्रकार की भावना बनी रही। तत्कालीन राजनीति तथा उमराव-वर्ग की ससक्ति एव प्रशासन पर जो प्रभाव पडा, उसका उल्लेख अन्यत्र किया जावेगा।

उमराव-वर्ग मे उपरोक्त विभिन्न जातीय तत्त्वो की साख्यिक शक्ति औरगजेब के काल मे कितनी थी उसका भी निरूपण करना नितान्त आवश्यक है चूँकि बिना इसके प्रत्येक जातीय तत्त्व का उमराव-वर्ग मे क्या स्थान था, मालूम नही किया जा सकता।

डा० अतहरअली ने इन जातीय तत्वो को विभिन्न श्रेणियो मे अर्थात् (१) विदेशी उमराव-वर्ग तूरानी और ईरानी, (२) अफगान, (३) भारतीय मुसलमान, (४) राजपूत, (५) दक्खिनी, (६) मराठे, (७) हिन्दू–मे रखा है और उनकी सात्त्विक शक्ति का पृथक्-पृथक् ब्योरा दिया है।

विदेशी उमराव-वर्ग–ईरानी व तूरानी-आईन मे दी गई मनसबदारो की सूची पर मोरलैण्ड ने टिप्पणी करते हुए कहा कि मनसबदारो की कुल सख्या मे से ७० प्रतिशत मनसबदार, जिनके वश के बारे मे ठीक-ठीक मालूम है, विदेशी थे और वे भारतवर्ष या तो हुमायूँ के साथ आये या अकबर के सिंहासन पर बैठने के उपरान्त। बर्नियर ने भी औरंगजेब के राज्यकाल के प्रारम्भिक वर्षो मे यह बात कही कि मुगल उमराव मे उजबेग, ईरानियो, अरबो एव तुर्को तथा बाह्य देशो से आने वालो की अत्यधिक सख्या है, डा० अतहर अली के अनुसार बर्नियर का कथन पूर्णत सत्य नही, क्योकि १६५८-१६७८ मे १००० और उसके ऊपर के ४१७ मनसबदारो मे से केवल २०२ या आधे से भी कम विदेशी थे। इनमे से ५५ का जन्म विदेशो मे हुआ था। इसी प्रकार से १६७९-१७०७ के मध्य उसी श्रेणी के कुल ४८२ मनसबदारो मे से जिनके वश का निर्धारण किया जा सकता है १९७ विदेशी थे और उनमे से ४६ का जन्म हिन्दुस्तान के बाहर हुआ था। अकबर के समय की अपेक्षा औरंगजेब के काल मे विदेशी मनसबदारो की सख्या कम ही रही। औरंगजेब के राज्यकाल मे विदेशी तत्त्वो की भर्ती कम ही हुई और उच्च-पदो मे उनकी सख्या और भी कम हो गई। १६५८-१६७८ मे ५००० और उसके ऊपर के मनसबदारो की कुल सख्या ५१ मे से ३२ विदेशी थे, जिनमे से १५ का जन्म हिन्दुस्तान के बाहर हुआ था और दो के वश का पता नहीं। इसी प्रकार १६७९-१७०७ मे उसी श्रेणी के ६६ मनसबदारो मे से, जिनके वश के बारे मे मालूम है २० विदेशी थे तथा उनमे से ६ का जन्म हिन्दुस्तान के बाहर हुआ था। औरंगजेब के काल मे विदेशी मनसबदारो की सख्या कम होने के कई कारण थे। पहली बात तो यह कि उजबेग तथा सफवी साम्राज्य पूर्व की भाँति इस काल मे शक्तिशाली नही रहे, जिसके कारण योग्य एव प्रतिभाशाली व्यक्तियो ने हिन्दुस्तान मे आकर मुगल-सेना मे भर्ती होना बन्द कर दिया। दूसरी बात, औरंगजेब का ध्यान निरन्तर दक्षिण मे ही लगा रहा। अपने पिता एव प्रतिपितामह की तरह उत्तर-पश्चिम मे उसने किसी उग्र-नीति या विस्तारवादी नीति का अनुसरण नही किया, जिससे कि उसे ईरान या तूरान के अफसरो को उच्च-पदो का लालच या घूस देकर अपने पक्ष मे करने व मुगल सेवा मे भर्ती करने का समुचित अवसर मिलता। तीसरे, औरंगजेब ने विदेशी उमराव की अपेक्षा भारतीय तत्वो की सहायता लेना उपयुक्त समझा। इस बात को देखकर मिर्ज़ा राजा जयसिंह को भी आश्चर्य हुआ।

विदेशी उमराव-वर्ग मे दो उप-वर्ग तूरानी व ईरानी थे। तूरानी शब्द का प्रयोग उन लोगो के लिये किया गया जोकि मध्य एशिया के उन देशो के निवासी थे जहाँकि तुर्की भाषा बोली जाती थी। यह सोचना गलत होगा कि क्योकि शासक तूरानी परिवार का था विदेशी उमराव-वर्ग मे तूरानियो की सख्या भी अधिक रही होगी। बर्नियर के अनुसार औरंगजेब के दरबार मे तूरानी बहुत ही कम थे। उसके इस कथन की पुष्टि

डा० अतहरअली ने आँकडे देकर की है। उनके अनुसार १६५८-७८ मे १००० और उसके ऊपर के ४८६ मनसबदारो मे ६७ मनसबदार तूरानी थे और १६७८-१७०७ के अन्तराल मे उसी श्रेणी के ५७५ मनसबदारो मे से ७२ मनसबदार तूरानी थे। अर्थात् प्रथम अन्तराल मे १००० और उनके ऊपर के कुल मनसबदारो की सख्या का १३.७ प्रतिशत और दूसरे अन्तराल मे १२.५ प्रतिशत। उमराव-वर्ग मे तूरानियो की सख्या अकबर के समय से ही गिरना प्रारम्भ हो चुकी थी और कालान्तर मे यह सख्या निरन्तर गिरती ही रही। औरगजेब के राज्यकाल मे तूरानियो की अपेक्षा ईरानियो की स्थिति अच्छी थी। ईरानियो को खुरासानी या ईराकी भी कहा जाता था। वे हिरात और बगदाद, आधुनिक फारस तथा अफगानिस्तान एव ईराक के उन भागो के निवासी थे जहाँ कि फारसी बोली जाती थी। तूरानियो की तुलना मे ईरानी देखने मे सुन्दर, योग्य एव सभ्य थे। जहाँगीर एव शाहजहाँ के राज्यकालो मे अपनी प्रतिभा एव हृदयग्राही गुणो के कारण वे ऊपर उठे और उनका मान-सम्मान हुआ।

शाहजहाँ के राज्यकाल के उत्तरार्द्ध मे होने वाले उत्तराधिकार के युद्ध के बारे मे यह कहा गया है कि औरगजेब ने सुन्नियो को शियाओ के विरुद्ध इस युद्ध मे खडा कर दिया। किन्तु यह धारणा स्वीकार करने योग्य नही। सामूगढ के युद्ध के पूर्व १००० और उससे ऊपर के १२४ अमीरो, जिन्होंने कि औरगजेब की सहायता की उनमे से केवल २७ ईरानी थे और उनमे से केवल ४ ही ५००० और उसके ऊपर के मनसबदार थे। जबकि दारा-शिकोह के ८७ समर्थको मे से २३ ईरानी थे। इसी प्रकार शुजा के १० समर्थको मे से केवल १ ही ईरानी था। उत्तराधिकार के युद्ध मे औरगजेब की विजय के बाद भी ईरानियो की स्थिति पर कोई प्रभाव न पडा। उनकी स्थिति मुगल उमराव-वर्ग मे पूर्ववत् बनी रही। बर्नियर के अनुसार विदेशी उमराव-वर्ग मे अधिकतर ईरानी थे और ट्रेवर्नियर के विचार मे मुगल साम्राज्य मे प्रतिष्ठित पदो पर केवल ईरानी ही विद्यमान् थे। दोनों ही विदेशी यात्रियो के कथन सत्यता से परे नही, क्योकि डा० अतहरअली के अनुसार १६५८-१६७८ मे ४८६ मनसबदारो मे से १३६ ईरानी थे, जबकि तूरानियो की सख्या केवल ६७ ही रही। इसी प्रकार १६७९-१७०७ मे ५७५ मनसबदारो मे से १२६ मनसबदार ईरानी थे। उच्च-पदो पर ईरानियो की सख्या अधिक थी। ५००० और उसके ऊपर की श्रेणी के मनसबदारो मे १६५८-१६७८ मे २३ ईरानी, १६७९-१७०९ में १४ ईरानी थे। जबकि दोनो अन्तरालो मे तूरानियो की सख्या क्रमश ९ और ६ ही रही। कई कारणो से ईरानियो की स्थिति ज्यो की त्यो बनी रही। उन कारणो मे से प्रमुख कारण तो यह था, कि दक्षिण के स्वतन्त्र राज्यो से ईरानी मुगल सेवा मे निरन्तर प्रविष्ट होते रहे।

मुगल उमराव-वर्ग में दूसरा जातीय तत्त्व अफगानो का था। औरगजेब के पूर्व उनकी स्थिति मुगल उमराव-वर्ग में उतनी अच्छी न थी जितनी कि उसके समय हो गई। अकबर उन्हे उपेक्षा की दृष्टि से देखता था, जहाँगीर ने उन्हे प्रश्रय दिया, शाहजहाँ के राज्यकाल मे खान-ए-जहाँ लोदी के विद्रोह के पश्चात् शासक उन्हे तिरस्कृत दृष्टि से देखने लगा। उत्तराधिकार के युद्ध के पूर्व औरगजेब ने उन्हे अपने पक्ष मे करने का प्रयास

किया और उसे इस कार्य में पूर्ण सफलता भी मिली। १००० और उसके ऊपर के १२४ मनसबदारो, जिन्होने कि सामूगढ के युद्ध के पूर्व उसकी सहायता की उसमे से २३ अफगान उसके पक्ष मे थे, जबकि दारा के पक्ष मे ८७ अमीरो में से केवल एक ही अफगान था। सिंहासन पर बैठने के उपरान्त औरंगज़ेब इस बात में सतर्क रहा कि किसी अफगान को यो ही उच्च पद न प्रदान किया जाय। १६५८–१६७८ मे १००० और उसके ऊपर के ४८६ मनसबदारो मे से ४३ अफगान थे और दूसरे अन्तराल में ५७५ मनसबदारो में से ३४ अफगान थे। अफगानो की सख्या मे यह गिरावट निम्न श्रेणी में ही थी। ५००० और उसके ऊपर के मनसबदारो की श्रेणी मे प्रथम अन्तराल (१६५८–१६७८) में उनकी सख्या ३ थी और दूसरे अन्तराल (१६७९-१७०७) में १० हो गई। उनकी सख्या मे वृद्धि होने का कारण बाजीपुर के राज्यो से अफगान अमीरो का मुगल सेना मे प्रविष्ट होना था। अफगान तत्त्व की वृद्धि का मुगल उमराव-वर्ग की आन्तरिक ससक्ति पर बहुत ही गम्भीर प्रभाव पडा। समकालीन इतिहासकारो ने जो भी बाते उनके सम्बन्ध मे लिखी वे ठीक ही है। उनका समाज, उनके रीति-रिवाज, उनका आचरण एव व्यवहार सभी कुछ अनूठा था। मुगल सेवा में अफसर नियुक्त होने के बाद भी उनमें कबायली मनोवृत्ति बनी रही। वे देश के विभिन्न भागो मे जहाँ भी बसे उन्होने वहाँ उपद्रव मचाना शुरू किया। उनकी विद्रोही कार्यवाहियो का प्रभाव मुगल साम्राज्य के भाग्य पर पडना स्वाभाविक ही था विशेषतौर से औरंगज़ेब की मृत्योपरान्त।

भारतीय मुसलमानो का भी मुगल उमराव-वर्ग मे विशिष्ट स्थान था। भारतीय मुसलमान शैखजादे के रूप मे सम्बोधित किये जाते थे तथा उनका सम्बन्ध कुछ महत्त्वपूर्ण कबीलो एव जातियो अर्थात् बारहा के सैय्यदो तथा कम्बो परिवारो से था। १६५६-१६७८ मे १००० और उसके ऊपर के मनसबदारो की कुल सख्या ४८६ मे से ६५ भारतीय मुसलमान थे अर्थात् कुल मनसबदारो की सख्या का १३ ४ प्रतिशत। द्वितीय अन्तराल (१६७९-१७०७) मे उनकी सख्या ५७५ मे से ६९ थी, अर्थात् कुल मनसबदारो की सख्या का १२ प्रतिशत। ५००० और उसके ऊपर की श्रेणियो के मनसबदारो की कुल सख्या मे से प्रथम अन्तराल (१६५६–१६७८) और द्वितीय अन्तराल (१६७९–१७०७) मे उनकी सख्या क्रमश ४ और १० थी। औरंगज़ेब के काल मे उनकी सख्या मे कुछ गिरावट दिखाई पडती है इसके कई कारण थे–नए तत्त्वो का उमराव-वर्ग मे प्रवेश करने के कारण पुराने भारतीय तत्त्व का अस्तित्व धीरे धीरे कम हो गया। दूसरे अकबर के समय की अपेक्षा इस काल मे बारहा के सैय्यदो एव कम्बो उतने प्रभावशाली नही रहे क्योकि औरंगज़ेब उन्हें सन्देहात्मक दृष्टि से देखने लगा था। उन्होने उत्तराधिकार के युद्ध मे दारा की सहायता की थी। तीसरे स्थानीय दक्खिनियो व काश्मीरियो को शाही सेवा मे नियुक्त करने के कारण भी शैखजादो की सख्या कम हो गई।

मुगल उमराव-वर्ग मे महत्त्वपूर्ण तत्त्व राजपूतो का था। औरंगज़ेब की राजपूत नीति को उसकी धार्मिक नीति के साथ जोड कर इतिहासकारो ने उसे एक विवाद-ग्रस्त विषय बना दिया और अनेक भ्रान्तिया उत्पन्न कर दी। उत्तराधिकार के युद्ध के पूर्व औरंगज़ेब ने राजपूतो को अपने पक्ष मे करने की सतत् चेष्टा की। राणा राजसिंह को उसने जो

निशान भेजे वे इस बात के साक्षी हैं कि वह राजपूतो का सहयोग प्राप्त करने का इच्छुक था। उसने राणा को वे सब प्रदेश जोकि उससे १६५४ मे छीन लिये गये थे वापस करने का तथा अपने पूर्वजो की हिन्दुओ के प्रति धार्मिक नीति का अनुसरण करने का आश्वासन दिया। उसने उसे लिखा कि जो शासक दूसरे धर्मो के प्रति असहिष्णुता का परिचय देता है। वह ईश्वर की आंखो मे विद्रोही है। प्रोफेसर कानूनगो ने भी यह बताने की चेष्टा की कि मिर्जा राजा जयसिंह ने औरगजेब की दारा के विरुद्ध गुप्त रूप से सहायता की थी। सामूगढ के युद्ध के पूर्व औरगजेब के १००० और उसके ऊपर के १२४ मनसबदारो मे से ६ राजपूत थे जबकि दारा के ८७ समर्थको मे २२ राजपूत थे। इसमे तनिक भी सन्देह नही कि दारा के राजपूत समर्थको की सख्या औरगजेब के राजपूत समर्थको से कही अधिक थी, किन्तु इसका एक-मात्र कारण यह था कि जिस समय उत्तराधिकार युद्ध प्रारम्भ हुआ उस समय अधिक से अधिक राजपूत मनसबदार दरबार मे ही थे और दारा का समर्थन करने के अतिरिक्त उनके पास अन्य कोई विकल्प न था। सिंहासन पर बैठने के पश्चात् औरगजेब ने राजपूतो के साथ सहृदयता का व्यवहार किया। जिसके परिणाम-स्वरूप उमराव-वर्ग मे उनकी स्थिति शाहजहाँ के काल की तुलना मे अधिक सुधर गई। शाहजहाँ के राज्यकाल मे कोई भी राजपूत ७००० का मनसबदार न था। लेकिन अब मिर्जा राजा जयसिंह तथा जसवन्तसिंह ७०००/७००० के मनसब तक पहुँचने मे समर्थ हो सके। १६०६ मे मानसिंह को बगाल से वापस बुला लेने के पश्चात् मालवा मे १६५८ में जसवन्तसिंह की नियुक्ति को छोडकर किसी की राजपूत की इस दीर्घ-काल मे किसी भी महत्त्वपूर्ण प्रान्त मे सूबेदार के पद पर नियुक्ति नही हुई। लेकिन औरगजेब के राज्यकाल मे मिर्जा राजा जयसिंह को दक्षिण का वाइसराय नियुक्त किया गया, तथा जसवन्तसिंह को दो बार (१६५९-६१ तथा १६७०-७२) मालवा का सूबदार नियुक्त किया गया। बर्नियर जोकि आगरा मे १६६५ तक रहा, ने भी इस बात की ओर सकेत किया है कि औरगजेब ने राजपूतो को प्रतिष्ठित पदो पर नियुक्त किया तथा उसकी सेवा मे अनेक राजपूत थे। बर्नियर के कथन की पुष्टि तुलनात्मक अध्ययन एव आकडो से भी हो जाती है। शाहजहाँ के राज्यकाल मे, सालेह की सूची के अनुसार ४३७ मनसबदारो (१००० और उसके ऊपर) में से ८२ अर्थात् १८०७ प्रतिशत राजपूत थे। मासूरी के अनुसार औरगजेब ने दक्षिण की ओर प्रस्थान करने से पूर्व राजपूतो की पदोन्नति पर रोक लगा दी। इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि अपने राज्यकाल के प्रथम दशक के समाप्त होने से पूर्व ही सकल्पित शाही नीति के अनुसार औरगजेब ने ऐसा किया होगा। औरगजेब ने जिस प्रकार जसवन्त-सिंह की मृत्यु के बाद मारवाड मे उत्तराधिकार के प्रश्न को हल करने की कोशिश की उससे भी ऐसा आभास मिलता है कि राजपूतो के प्रति उसने पहले की तरह उदारता दिखाना बन्द कर दिया। इसमे तनिक भी सन्देह नही कि १६८०-१६८१ के विद्रोह मे राठौर और सिसोदिया सम्मिलित थे। लेकिन जैसाकि वाक्याए-अजमेर मे लिखा है कि विद्रोह के दौरान अन्य राजपूत अफसर समय-समय पर मुगलो की सेवा मे आते भी रहे, जिसके कारण राजपूत उमराव-वर्ग की सांख्यिक शक्ति पर कोई प्रभाव न पडा। १६७९-१७०७ मे ५७५ मनसबदारो मे से ७३ राजपूत थे अर्थात् कुल मनसबदारो की सख्या का

१२ ६ प्रतिशत, जबकि प्रथम अन्तराल मे (१६५६–१६७८) मे उमराव-वर्ग मे उनकी सख्या १४ ६ प्रतिशत थी। द्वितीय अन्तराल (१६७६–१७०७) मे राजपूतो की सख्या मे गिरावट का कारण १६८०–८१ का विद्रोह नही वरन् दक्खिनियो का उमराव-वर्ग मे प्रवेश करना कहा जा सकता है। मुगल उमराव-वर्ग मे राजपूतो की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए डा अतहरअली ने प्रो एस आर शर्मा के उस मत का खण्डन किया है जिसके द्वारा उन्होने यह साबित करने का प्रयास किया कि नये राजपूत सरदारो को उनके पूर्वगामियो को तुलना मे निम्न श्रेणियो मे मनसब प्रदान किये गये। डा अतहर अली के अनुसार औरंज़ेब ने राजपूत राज्यो के किसी भाग को साम्राज्य मे विलय करने का कभी प्रयास नही किया या राजपूतो से वतन-जागीरे ही वापस लेने की चेष्टा की। हाँ, उसने इतना अवश्य किया कि उनकी पदोन्नति करते समय उसने उनकी वतन-जागीरो के अतिरिक्त शाही जागीरें देने पर पाबन्दी अवश्य लगा दी। कई कारणो से औरंगज़ेब को ऐसा करना पडा। उसने राजपूतो के साथ उनके सहधर्मावलम्बियो की अपेक्षा अच्छा ही व्यवहार किया। सभी राजपूत जोकि शाही सेवा मे थे जजिया से मुक्त अवश्य कर दिये गये, किन्तु फिर भी जिस प्रकार अकबर ने उनके साथ व्यवहार किया उस प्रकार वह उनके साथ व्यवहार न कर सका। इस बात को डा. अतहरअली ने स्वीकार किया है। वास्तव मे दोनो अन्तरालो मे औरंगज़ेब के राजपूतो के प्रति दृष्टिकोण मे अन्तर दिखाई देता है।

मुगल उमराव-वर्ग का एक और महत्त्वपूर्ण तत्त्व दक्खिनी थे। दक्खिनी शब्द का प्रयोग दक्षिण के स्वतन्त्र राज्यो के अमीरो, जो हिन्दुस्तानी एव विदेशी कुल के थे तथा जिन्होने अपने स्वामियो का साथ छोड कर मुगल सेवा स्वीकार की, के लिए प्रयोग किया गया है। औरंगज़ेब के राज्यकाल के प्रथम अन्तराल (१६५४-१६७८) मे मुगल उमराव-वग मे उनकी सख्या कम थी। १००० से ऊपर के ४८६ मनसबदारो मे, प्रथम अन्तराल मे ५८ दक्खिनी थे। इन्ही श्रेणियो मे दूसरे अन्तराल (१६७८-१७०७) मे ५७५ मनसबदारो मे से उनकी सख्या बढकर १६० हो गई। अन्य शब्दो मे जबकि प्रथम अन्तराल मे कुल मनसबदारो की सख्या मे ११ ८ प्रतिशत दक्खिनी थे, द्वितीय अन्तराल मे उसकी सख्या बढकर २७ ८ प्रतिशत हो गई। यो तो यह वृद्धि १००० और उसके ऊपर के मनसबो की सभी श्रेणियो मे हुई परन्तु प्रथम अन्तराल की अपेक्षा द्वितीय अन्तराल मे दक्खिनियो की वृद्धि की उच्च श्रेणियो मे अधिक हुई। यह वृद्धि स्वाभाविक ही थी। द्वितीय अन्तराल मे औरंगज़ेब की नीति के कारण दक्षिण के स्वतत्र राज्यो के विजित कर उन्हे साम्राज्य मे मिलाना पडा। परिणामस्वरूप बीजापुर व हैदराबाद के अमीरो को शाही सेवा मे भर्ती करना पडा। मराठो से युद्ध करते समय भी औरंगज़ेब को दक्खिनियो को घूस देकर शाही सेना मे लेना पडा। मुगल उमराव-वर्ग मे दक्खिनियो के इतनी अधिक सख्या मे आ जाने के कारण न केवल उमराव-वर्ग की सरचना ही बिगड गई वरन् उसका प्रभाव उमराव-वर्ग के विभिन्न तत्त्वो एव मुगल प्रशासन के आर्थिक ढांचे पर भी पडा। बीजापुर व गोलकुण्डा के विलयीकरण के उपरान्त दक्खिन की जामादामी साम्राज्य की कुल जमा मे ४३ ५ प्रतिशत अब तक बढ गई (१६८७-६१), लेकिन १६७६-१७०७ मे १००० और उससे ऊपर के मनसबदारो की कुल

सख्या मे दक्खिनी अमीरो की सख्या २७ ६ प्रतिशत वृद्धि हुई। जिनके कारण आय और दक्खिनियो की सख्या मे वृद्धि मे सन्तुलन न बना रह सका। अन्य शब्दो मे १६६७-१६६१ के मध्य जबकि साम्राज्य की कुल जमा मे दक्षिण का भाग केवल ३५ ५ प्रतिशत बढा, १६५८-७८ तथा १६७६-१७०७ के मध्य दक्खिनी अमीरो की सख्या १३६ ५ प्रतिशत बढ गई। पहले तो दक्खिनी अमीरो को दक्षिण मे ही जागीरे प्रदान की जाती थी किन्तु गैर-दक्खिनियो की दक्षिण मे उपस्थिति के कारण, उन्हे दक्षिण मे जागीरें न दी जा सकी। जब उन्हें साम्राज्य के अन्य भागो मे जागीरे दी जाने लगी तो उमराव-वर्ग के अन्य तत्त्वो, विशेष तौर से पुराने खानाजादो को अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडा। अबुलफजल मामूरी ने ठीक ही कहा है कि स्थिति इस प्रकार की हो गई कि सारा देश दक्षिण मे भर्ती किये गये व्यक्तियो या उनके प्रतिनिधियो को जागीरो के रूप मे दे दिया गया, या उनसे घूस लेकर उन्हे अच्छी से अच्छी जागीरें प्रदान कर दी गई, जिनसे कि दक्खिनियो को अधिक से अधिक लगान प्राप्त होता था। इस प्रकार नये और अपरिचित मनसबदारो व उनकी श्रेणियो मे वृद्धि होती रही और पुराने मनसबदारो की सख्या व उनके मनसब दिन प्रतिदिन कम होते रहे। अधिक से अधिक सख्या मे दक्खिनी अमीरो को सेवा में लेने पर न साम्राज्य की स्थिति पहले से सुधरी और न ही नव-आगन्तुको की ही स्थिति मे किसी प्रकार का सुधार हुआ। उत्तरी भारत मे दक्खिनियो को जो जागीरे दी गई वे उनके लिए अपर्याप्त सिद्ध हुई और दक्षिण मे मराठो की लूट-मार के कारण तथा १७०२ ४ मे अकाल पड जाने के कारण उनकी स्थिति पहले से भी अधिक बिगड गई। जब वे अपनी जागीरो से धन कमा न सके तो उन्होने मुग़लो का साथ छोडना शुरू कर दिया और वे मराठो के पक्ष मे हो गए।

शाहजहाँ के राज्यकाल के प्रारम्भिक वर्षों मे ही मराठो को मुग़ल उमराव-वर्ग मे प्रवेश करने का अवसर प्राप्त हुआ। कालान्तर मे जब शिवाजी के नेतृत्व मे दक्षिण मे मराठा स्वराज्य की स्थापना हुई और मराठो का प्रभाव वहाँ अत्यधिक बढ गया, तो इस प्रभाव को कम करने के लिए मुगल प्रशासन ने उन्हे उच्च पदो एव समृद्धशाली जागीरें देने का प्रलोभन देकर शाही सेवा मे लेना शुरू किया। फलस्वरूप मुगल उमराव-वर्ग मे मराठो की सख्या दिन प्रतिदिन बढने लगी। मराठो की सख्या मे यह वृद्धि प्रथम अन्तराल की अपेक्षा द्वितीय अन्तराल मे अधिक हुई। प्रथम अन्तराल (१६५६-१६७८) मे १००० से ऊपर के कुल मनसबदारो की सख्या मे २७ मनसबदार मराठे थे, जबकि द्वितीय अन्तराल (१६७६-१७०७) मे उनकी सख्या बढकर ६६ हो गई। शाहजहाँ के काल से यह वृद्धि २ ६ प्रतिशत से १६ ७ प्रतिशत हो गई। इनमे तनिक भी सन्देह नही कि मराठो को उच्च-पद एव जागीरें देकर औरगजेब ने उन्हे अपने पक्ष मे करने की भरसक चेष्टा की, लेकिन फिर भी उनकी मुगल प्रशासन के प्रति स्वामिभक्ति ढुलमुल ही रही। अधिकतर मराठे अपने गढो को बनाकर मुगल प्रदेशो को लूटने मे ही लगे रहे। कारण यह कि मराठो का समाज, राजपूतो के कुलो की भाँति सुसगठित नही था। कोई भी राजपूत कुल का सरदार यदि मुगल सम्राट की आधीनस्थता स्वीकार कर लेता था तो उस कुल के सभी सदस्य अपने सरदार का अनुकरण करते थे। मराठो के साथ ऐसी बात न थी। जब तक लूटमार व विरोध करने से उन्हें लाभ होता रहता था, तब तक उनकी छोटी-छोटी सैनिक टुकडियो के सरदार तथा साधारण

जमींदार विद्रोहात्मक कार्यवाहियाँ करते रहते थे और जब उनकी इच्छा मुगलों का साथ देने की होती थी तो वे शाही सेवा मे आ भी जाया करते थे तथा अपनी ही इच्छानुसार शाही सेवा छोड भी दिया करते थे। कुछ भी हो अपने व्यवहार के कारण मुगल उमराव-वर्ग मे शासक वर्ग मे वे अभी भी राजपूतों की भाँति अपना स्थान नही बना सके। उमराव-वर्ग मे उनकी उपस्थिति से लाभ होने के बजाय मुगल साम्राज्य का पतन ही हुआ।

मुगल उमराव-वर्ग मे राजपूतो और मराठो को मिलाकर हिन्दुओ की सख्या बहुत ही अधिक थी। कुछ इतिहासकारो का यह कहना है कि औरंगजेब के शासनकाल मे न केवल राजपूतो की स्थिति गिरी वरन् समस्त हिन्दू उमराव-वर्ग की स्थिति मे गिरावट आई। प्रो० एस० आर० शर्मा ने औरंगजेब के अन्तर्गत १००० और उसके ऊपर के मनसबदारो की सूची बनाई और यह साबित किया है कि जबकि औरंगजेब के अन्तर्गत कुल मनसबदारो की सख्या दुगनी हो गई, हिन्दू मनसबदारो की कुल सख्या वही रही जो कि शाहजहाँ के समय थी। लेकिन डा० अतहरअली ने प्रो० शर्मा के मत का खण्डन करते हुए स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि प्रो० शर्मा ने औरंगजेब के हिन्दू मनसबदारो की जो सूची दी है वह अपूर्ण आँकडो पर आधारित है अतएव उसके आधार पर निश्चित् निष्कर्ष पर नही पहुँचा जा सकता। डा० अतहरअली ने पृष्ठ ३१ पर जो तालिकाएँ दी हैं वे उनके मत की पुष्टि करती है। शाहजहाँ के काल मे ४३७ मनसबदारो मे से ९८ हिन्दू थे। औरंगजेब के राज्यकाल के प्रथम अन्तराल मे (१६५६-१६७८) मे ४८६ मे से १०५ और द्वितीय अन्तराल (१६७९-१७०७) मे ५७५ मे से १८२ हिन्दू थे। इस प्रकार जबकि शाहजहाँ के काल में १००० और उसके ऊपर के मनसबदारो की कुल सख्या मे से २२.४ प्रतिशत थे, औरंगजेब के राज्यकाल के दोनो अन्तरालो मे हिन्दू मनसबदारो की सख्या बढ कर क्रमश २१.६ और ३१.६ हो गई। इन आँकडो से यह भी स्पष्ट है कि औरंगजेब के राज्यकाल के प्रथम अन्तराल मे हिन्दू मनसबदारो की सख्या कुछ कम हो गई थी लेकिन द्वितीय अन्तराल मे उनकी स्थिति सुधर गई। औरंगजेब की कट्टर धार्मिक नीति के बावजूद भी हिन्दुओ की सख्या मुगल उमराव-वर्ग मे बढी, यह बात ध्यान देने योग्य है।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि दक्षिण की ओर साम्राज्य की सीमाएं बढाने एवं दक्षिण के राज्यो को विजित कर उन्हें साम्राज्य मे मिलाने की नीति नही अपनाई जाने से पूर्व मुगल उमराव-वर्ग का आकार औरंगजेब के अन्तर्गत पूर्व की भाँति रहा। लेकिन जब उक्त नीति कार्यान्वित की गई तब उसका आकार बहुत बदल गया, कारण यह कि उसमे नये तत्त्व प्रविष्ट हो गये। दक्खिनियो तथा मराठो की उच्च-पदो पर नियुक्ति के कारण राजपूतो, बारहा के सैय्यदो, तूरानियो एव ईरानी तत्त्वो की स्थिति पूर्व जैसी नही रही। अफगानो की स्थिति पहले से अच्छी हो गई। खानाजादो का प्रभाव बहुत ही कम हो गया। मध्य एशिया और फारस के कुलीन परिवारो से आने वाले लोगों की भर्ती औरंगजेब के राज्यकाल मे हुई तो अवश्य लेकिन बहुत ही कम सख्या मे। औरंगजेब के राज्यकाल के द्वितीय अन्तराल मे वे सभी सिद्धान्त, जिन्हे कि भर्ती करते समय ध्यान मे रक्खा जाता था तथा जिनका पालन किया जाता था वे सभी

सिद्धान्त उठाकर ताक मे रख दिये गये, जिसका असर मुगल उमराव-वर्ग पर बहुत ही बुरा पड़ा।

दूसरे इस अध्याय में लेखक ने सर्वप्रथम मनसबदारी प्रथा के विकास पर प्रकाश डाला है। मुगल साम्राज्य की स्थापना से पूर्व, दिल्ली के सुल्तानो की सेना में अश्वारोहियो का सगठन दशमलव प्रणाली पर आधारित था। दस सवारो के ऊपर एक सर-ए-खैल, १० सर-ए-खैलो के ऊपर एक सिपहसालार, १० सिपहसालारो के ऊपर एक अमीर, १० अमीरों के ऊपर एक मलिक, १० मलिको के ऊपर एक खान और १० खान एक शासक के अन्तर्गत हुआ करते थे। इस प्रकार एक सर-ए-खैल के अन्तर्गत १० व्यक्ति, सिपहसालार के अन्तर्गत १००, अमीर के अन्तर्गत १०००, मलिक के अन्तर्गत १०,००० तथा खान के अन्तर्गत १०,०००० सैनिक हुआ करते थे। बरनी द्वारा दिये गये उपरोक्त विवरण में कुछ अतिशयोक्ति एव त्रुटियाँ मालूम होती हैं। शिहाबुद्दीन अल उमरी के अनुसार एक खान के अन्तर्गत १०००० अश्वारोही, मलिक के अन्तर्गत १०००, अमीर के अन्तर्गत १०० और सिपहसालार के अन्तर्गत उससे भी कम अश्वारोही हुआ करते थे। बरनी ने जो प्रथम तीन प्रमुख श्रेणियो के अफसरो की सैन्य-सख्या दी है, उसकी तुलना मे शिहाबुद्दीन द्वारा दी गई सख्या कही अधिक कम है। मगोलों की सेना मे भी दशमलव प्रणाली के आधार पर सैनिक टुकड़ियाँ १०, १००, १०,००० की थी। मुगल जोकि अपने को मगोलो का वशज कहते थे ने भी दशमलव प्रणाली के आधार पर अपनी सेना रक्खी। कालान्तर मे सम्राट अकबर ने इस प्रणाली मे गहन परिवर्तन एव प्रयोग किये और मनसबदारी प्रथा को जन्म दिया। मनसब शब्द का अर्थ है पद, इस शब्द का प्रयोग अधिकारी-वर्ग मे अमुक व्यक्ति का स्थान एव वेतन आदि इंगित करने के लिये भी किया गया है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत जिन व्यक्तियो को मनसब प्रदान किया जाता था, चाहे उन्हें १० से लेकर ५००० या उससे ऊपर के ही मनसब क्यो न प्रदान किये गये हो, वे सम्राट के अधीन और उसकी सेवा मे समझे जाते थे। प्रत्येक मनसबदार को जात व सवार मनसब दिए जाते थे। अकबर के राज्यकाल के अन्तिम वर्षों मे जात मनसब, वेतन सारिणी के अनुसार मनसबदार के वेतन और अधिकारी-वर्ग मे उसका स्थान ही केवल इंगित करने लगा। जबकि सवार मनसब इस बात का निर्धारण करने लगा कि अमुक मनसबदार को कितने अश्वारोही एव घोड़े रखने पड़ेगे। जात मनसब एव सवार मनसब मे कई श्रेणियाँ थी। जात मनसब सवार मनसब के बराबर भी हो सकता था और उससे कम भी। अकबर की मनसबदारी व्यवस्था के आधारभूत तत्त्व १७वी शताब्दी मे यद्यपि ज्यो के त्यो बने रहे, लेकिन फिर भी इस प्रथा मे कुछ नये तत्त्व लागू हुए। उदाहरणार्थ, जहाँगीर के राज्यकाल मे दो अस्पा सेह अस्पा मनसब का दिया जाना प्रारम्भ हुआ और शाहजहाँ के राज्यकाल मे वेतन के नये मान, नये मासिक अनुपात, एव सवार मनसब की विभिन्न श्रेणियो के अन्तर्गत किया सैनिक आकार टुकड़ियो के रखने से सम्बन्धित कानून लागू किये गये। मनसबदारी प्रथा मे औरगजेब की दीर्घकालीन शासनकाल मे जो महत्त्वपूर्ण थे वे इस प्रकार से था --(१) उसके समय ऐसे मनसबदारो

की सख्या अधिक बढ गई जिनका सवार मनसब ज़ात से अधिक था। औरगज़ेब ने बचत करने की दृष्टि से बिना ज़ात मनसब मे वृद्धि किये हुए सवार मनसब मे वृद्धि करना उचित समझा। (२) कभी-कभी ज़ात व सवार मनसब के अतिरिक्त प्रतिबन्धित मनसब, अमुक कार्य एव अमुक पद के लिये मनसबदार को दिया जाने लगा। उदाहरणार्थ, यदि किसी मनसबदार को किसी प्रदेश का फौजदार नियुक्त किया गया और इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि यदि उसके सवार मनसब मे वृद्धि कर दी जाय तो वह अच्छी तरह से अपने उत्तरदायित्व को निभा सकेगा तो उसके सावर मनसब मे प्रतिबन्धित वृद्धि कर दी जाती थी और उन सवारो पर खर्च करने के लिये उसे प्रतिबंधित जागीर भी प्रदान कर दी जाती थी। काय समाप्त होने पर या उक्त अफसर के स्थानान्तरण होने पर, उससे प्रतिबन्धित मनसब व जागीर को वापस ले लिया जाता थी। कभी-कभी तो पूरा शर्त-युक्त मनसब या उसका कुछ भाग बिना शर्त के दे दिया जाता था, जोकि मनसबदार की पदोन्नति समझी जाती थी, (३) शाहजहाँ के शासनकाल की अपेक्षा औरगज़ेब के राज्यकाल मे उन मनसबदारो की सख्या मे अत्यधिक वृद्धि हुई जिनके पास ज़ात व सवार के अतिरिक्त दो अस्पा सेह अस्पा मनसब थे। दो अस्पा सेह अस्पा मनसब, सवार मनसब की सख्या से अधिक नही होता था और दो अस्पा सेह अस्पा वाले मनसबदारो को साधारण मनसबदारो से अधिक वेतन प्राप्त होता था, (४) मुगल अमीरो को तो नकद वेतन मिलता था या जागीरे। अमीर का मनसब ही उसके वेतन को निर्धारित किया करता था। मनसब मे ज़ात, मनसबदार वेतनमान के अनुसार वेतन तलब किया करता था। ज़ात मनसब की सख्या के अनुसार जो वेतन मनसबदार को मिलता था वह उसके निजी खर्च, परिवार का पोषण करने के लिए तथा अपने नौकर-चाकरो पर व्यय करने के लिए होता था, सवार व दो अस्पा सेह अस्पा की संख्या के अनुसार जो वेतन मनसबदार को दिया जाता था वह सैनिक टुकडियो को रखने के लिए होता था। अकबर के समय ज़ात, सवार मनसबो की विभिन्न श्रेणियो के लिए जो वेतनमान चला आ रहा था, उसी का प्रयोग कुछ परिवर्तनों के साथ होता रहा। (५) शाहजहाँ के समय मे लागू किये गये मासिक वेतन-मान औरगज़ेब के राज्यकाल मे भी चलते रहे। मासिक वेतन-मान का प्रयोग नकदी या जागीरो को वेतन के रूप मे देते समय किया जाता था। इसका विस्तृत ब्योरा पृष्ठ ८६-४६ पर दिया गया है। (६) मनसबदारो के वेतन मे से कई तरह की कटौती भी की जाती थी। उदाहरणार्थ, दक्खिनियो के वेतन मे से १/४ भाग काट लिया जाता था। इसे वज़ा-ए-दाम-ए चौथाई कहते थे। कुछ अमीरो से खूराक-ए-दव्वाब (सम्राट के अस्तबल के हाथी, घोडो आदि के चारे के लिए) वेतन का १/४ भाग वसूल कर लिया जाता था। यह कर उन लोगो मे नही लिया जाता था जिन्हें कि वेतन मे १४ लाख दाम या उससे कम या उन लोगो जिनके पास कोई भी सवार मनसब नही होता था या जिनके मनसब ४०० ज़ात या २०० सवार से कम हुआ करते थे। इन करो के अतिरिक्त अमीरो के नकद वेतन मे से ५ प्रतिशत दो दामी (एक रुपये मे से दो दाम) की कटौती की जाती थी। कभी-कभी तो उन्हे पूरी सख्या मे सैनिक न रखने के लिए जुर्माना भी देना पडता था। जब अमीरो के अभियानो पर भेजा जाता था तो कभी-कभी उन्हे उनके वेतन का १/४

भाग अग्रिम वेतन के रूप में या घोड़े आदि का प्रबन्ध करने के लिये दे दिया जाता था। यह रकम उनसे या तो वसूल ली जाती थी, या वेतन देते समय उसका हिसाब-किताब ठीक कर लिया जाता था। जब कभी अमीरो के पास राज्य का धन रह जाता था, तो या तो यह धन उससे किसी प्रकार से वसूल कर लिया जाता था या माफ कर दिया जाता था या उसके उत्तराधिकारियो से वसूल कर लिया जाता था। अन्य शब्दो मे अकबर के समय की अपेक्षा औरगजेब के काल मे मनसबदारो को बहुत ही कम वेतन मिलता था। (७) मनसबदारो का सैनिक उत्तरदायित्व —प्रत्येक मनसबदार को अपने सवार मनसब के अनुसार घोडे व अश्वारोहियो को शाही सेवा के लिए तैयार रखना पडता था। शाहजहा के शासनकाल के समय से चले आए मनसबदारो के अन्तर्गत अश्वारोहियो की हाजिरी सम्बन्धित नियमो का औरगजेब के काल मे भी पालन होता रहा। खुलासत उत-सियाक जिसकी रचना औरगजेब के राज्यकाल के अन्तिम वर्षो मे हुई से पता चलता है कि अश्वारोहियो की हाजिरी सम्बन्धित नियमो के अनुसार १०० सवार वाले मनसबदार को कितने घोडे व अश्वारोही रखने पडते थे। अतहरअली ने दो सारिणियो द्वारा पृ ५६ इस तथ्य पर प्रकाश डाला है और यह बताया है कि औरगजेब के काल मे मनसबदारो से यह आशा की जाती थी कि वे अपने सवार मनसब की सख्या का १/५ अश्वारोहियो व घोडो को हाजिरी के लिये उपस्थित करेंगे। इस सम्बन्ध मे दो बाते ध्यान देने के उपयुक्त है—उन मनसबदारो को जिन्हे कि सवार मनसब की सख्यानुसार, राजकीय नियमो के अनुसार घुडसवारो व घोडो को रखने के लिए नकदी मे वेतन दिया जाता था उसके लिए १/५ वाला नियम लागू होता था। इस नियम के अनुसार एक महीने से १२वें महीने तक उन्हे निर्धारित सख्या मे घोडे व अश्वारोहियो को रखना पडता था (देखिए डा अहतरअली द्वारा दी गई पृ ५६ पर तालिका न १) जिन मनसबदारो की नियुक्ति प्रान्तो मे होती थी तथा जिन्हे उसी प्रान्त मे वेतन के बजाय जागीरें दी जाती थी, उनके लिए हाजिरी के सम्बन्ध मे १/३ वाला नियम लागू होता था और उसी नियम के अन्तर्गत एक महीने से १२ वें महीने तक उन्हे निर्धारित सख्या मे घोडे व सवार रखने पडते थे (देखिए डा अतहरअली द्वारा दी गई पृ ५६ पर तालिका न २)। मनसबदारो के लिए घोडे दगवाने एव उनकी सैनिक टुकडियो की जाँच करने के लिए भी अनेक नियम थे जोकि जवाबित-ए-आलमगीरी एव खुलासत-उत-सियाक मे दिये गये हैं। नकदी मनसबदारो के लिये घोडे दागने वाले अफसरो को वर्ष मे दो बार नवीनीकरण सर्टिफिकेट लेना आवश्यक था। यदि वह ऐसा करने मे छ महीने तक असफल रहता था तो उसे दो महीने की और मोहलत दी जाती थी। यदि फिर भी वह नवीनीकरण सर्टिफिकेट प्राप्त करने मे समर्थ नही हो पाता था। तो आठ महीने से ऊपर का वेतन का भुगतान रोक लिया जाता था। जिन मनसबदारो को नकदी और जागीर दोनो मे ही वेतन दिया जाता था, उनके लिए दूसरी तरह के नियम थे। उन्हे भी पहले अपने घोडो को दगवाने से सम्बन्धित सर्टिफिकेट प्राप्त करना पडता था। उनके बारे मे घोडो को दगवाने के वे ही नियम लागू होते थे जोकि जागीरदारो पर लागू होते थे। उन्हे प्रतिवर्ष अपने घोडो को दगवाने के लिये

हाज़िर करना पडता था, विलम्ब होने की स्थिति मे उन्हें छ महीने का अधिक समय दे दिया जाता था। इस कार्य मे अधिक विलम्ब होने पर उनका वेतन या तो रोक लिया जाता था या उन नियमो के अनुसार जो जागीरदारो के लिये थे, उनके वेतन को समजित कर दिया जाता था। यदि मनसबदार को उसके वेतन का आधे से अधिक भाग नकद मे दिया जाता था तो उस पर नकदी सम्बन्धी नियम लागू होते थे और यदि मनसबदार को वेतन मे आधा नकद और आधा वेतन जागीर के रूप मे दिया जाता था और विलम्ब के लिए उसे थोडा समय और दे दिया गया हो, उस मनसबदार के सम्बन्ध मे भी नकदी सम्बन्धी कानून लागू होते थे। इसके अतिरिक्त अपने राज्यकाल के २३वें वर्ष मे औरगज़ेब ने आदेश दिया कि सभी नकदी मनसबदारान जिन मनसबदारो को नकद वेतन दिया जाता था, हर तीसरे माह, और सभी जागीरदार हर छठे महीने अपनी सैनिक टुकडियो को दगवाने के लिये हाजिर हो। खुलासत-उत मियाक के अनुसार नकदी मनसबदारान को केवल तुर्की घोडे ही दगवाने के लिये आना पडता था और जागीरदारो को सवार मनसब के २/३ भाग मे से तुर्की और याबू घोडे तथा १/३ ताजी घोडे। घोडे दगवाने से सम्बन्धित नियम ५००० जात और उससे ऊपर के मनसबदारो के लिये नही थे, लेकिन अपने राज्य-काल के २५वें वर्ष मे औरगज़ेब ने हुक्म दिया कि दक्षिण मे शाही-सेवा मे रत ५००० जात और उनके ऊपर के सभी मनसबदार अपने जात मनसब की सख्यानुसार घोडे दग-वाने के लिये हाज़िर हो। मनसबदारी व्यवस्था को दक्ष बनाये रखने मे औरग-ज़ेब बहुत ही सतर्क रहा। जो मनसबदार अपने जात या सवार मनसब के अनुसार सैनिको या घोडो को नही रखता था, उनको हाज़िरी का सर्टिफिकेट या तो नही दिया, या रोक लिया जाता था, या उस पर जुर्माना किया जाता था या उसके मनसब को कम कर दिया जाता था। लेकिन आवश्यकता पडने पर कभी-कभी औरगज़ेब मनसबदारो को दाग सम्बन्धी नियमो मे छूट भी दे दिया करता था। उदाहरणार्थ, १६८५ मे उसने १०० से ४०० को मनसबदारो के लिये १/३ के नियम के पालन न करने की छूट दे दी ताकि वे अपने लिये घोडे खरीद कर शाहज़ादा आज़म की सेना को सशक्त बना सके। कभी-कभी औरगज़ेब कुछ समय के लिये मनसबदारो को दाग के नियम से मुक्त भी कर दिया करता था। (८) भर्ती एव पदोन्नति—सैद्धान्तिक रूप से मनसबदारो की भर्ती स्वय सम्राट किया करता था और उन्हे स्वय उसके सामने उपस्थित होना पडता था। लेकिन साम्राज्य के प्रमुख अमीरो, प्रान्तीय गवर्नरो, सेनाध्यक्षो एव कमाण्डरो की शिफारिश पर भी मनसब-दार भर्ती कर लिये जाते थे। यह शिफारिशें पहले सम्राट के सम्मुख रक्खी जाती थीं और जब वह अपनी स्वीकृति दे देता था तो बख्शी, दीवान और साहिब-ए-तौजिह आवश्यक जाँच-पडताल करते थे और उसके बाद पुन उनकी रिपोर्ट के साथ यह शिफारिशें सम्राट के सम्मुख रखी जाती थी। उसके द्वारा दो बारी स्वीकृति दिये जाने पर, नियुक्ति पत्र, जिन पर कि विभिन्न अधिकारियो की विशेषतौर पर दीवान और बख्शी की मुहरें लगी हुई होती थी, जारी कर दिये जाते थे। मनसब के लिये उम्मीदवार को जमानत देनी पडती थी और इस नियम का पूर्णत पालन किया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि सेठ और साहूकार द्वारा ली गई जमानत प्रशासन मान लेता था। जो भी व्यक्ति मनसबदार की जमानत

लिया करते थे वे ही मनसवदार के अच्छे व्यवहार के लिये तथा मनसवदार के पास सरकार की वकाया रकम जिसका कि वह भुगतान न कर सका हो, के भुगतान के लिये जिम्मेदार होता था। चूँकि औरगजेब के राज्यकाल मे इस प्रकार की जमानतें दक्षिण मे कोई भी लेने के लिये तैयार नही होता था इसलिए उसने दक्खिनियो को इस नियम से छूट दे दी।

मनसबदारो की पदोन्नति करने का एक ढग था। जिस शाहजादे, सेनाध्यक्ष एवं प्रान्तीय गवर्नर के अन्तर्गत मनसवदार रहता था, वे ही उसके मनसव मे वृद्धि करने की शिफारिश किया करते थे। जन्म-दिन या नये वर्ष पर या किसी त्यौहार के अवसर पर भी मनसवदारो के मनसब मे वृद्धि की जाती थी। कभी-कभी तो किसी अभियान पर भेजे जाने के पूर्व और कभी वहाँ से वापस आने पर भी मनसव मे वृद्धि की जाती थी। यह पदोन्नतियाँ, साहसी कार्य, वहादुरी, सद्व्यवहार और वफादारी के लिये भी होती थी। साथ ही साथ जव कभी मनसवदार सम्राट को वहुमूल्य पेशकश दिया करते थे, तो भी उनकी पदोन्नति कर दी जाती थी या फिर जब कभी मनसवदार की निम्न पद से उच्च-पद पर नियुक्ति की जाती थी तो उसके मनसब मे उसके पद को ध्यान मे रखते हुए वृद्धि कर दी जाती थी। मनसवदार की मृत्यु के वाद उसकी कुल सम्पत्ति सरकार जब्त कर लेती थी अथवा अपने कब्जे मे उस समय तक रखती थी जव तक कि दिवगत मनसबदार के हिसाब का लेखा-जोखा न हो जाय। हिसाब-किताव हो जाने पर यह सम्पत्ति दिवगत मनसवदारो के उत्तराधिकारी या उत्तराधिकारियो को वापस लौटा दी जाती थी। जिन दिवगत मनसबदारो की सम्पत्ति सरकार ने अपने कब्जे मे जब्ती के नियम के अनुसार ले ली, उनके नाम डा० अतहरअली ने पृष्ठ ६५-६७ पर दिये है अतएव उनके नाम यहाँ देने की आवश्यकता नही। इसी अध्याय के अन्त मे लेखक ने कई महत्त्वपूर्ण परिशिष्टियाँ दी है, जिनमे कि उन मनसवदारो के नाम जिनका सवार मनसब जात से अधिक था, (परिशिष्ट-अ) तथा जात मनसव का वेतन-क्रम (परिशिष्ट-ब) दिये है। इस प्रकार इस अध्याय मे जैसाकि उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है, उमराव-वर्ग को सगठित करने की विधि, मनसवदारी-प्रथा, मनसबदारों के वेतन-मान, उनके सैनिक उत्तरदायित्व पर पूरी तरह से प्रकाश डाला गया है।

द्वितीय अध्याय की भाँति तृतीय अध्याय भी कई खण्डो मे विषयानुसार विभाजित है। मुगल साम्राज्य मे मनसवदारो को या तो वेतन मे नकद धन मिलता था या उन्हें वेतन के एवज मे ऐसे प्रदेश सौंप दिये जाते थे जहाँ से वे भूमि-कर के अतिरिक्त अन्य करो को, यदि सम्राट ने उन्हे ऐसा करने की अनुमति प्रदान की हो, एकत्र करने का अधिकार प्रदान कर दिया जाता था। इस प्रकार के आवटन (assignments) को जागीर तयूल कहते थे और आवटन के मालिक को जागीरदार और तुयूलदार कहते थे। साम्राज्य की अधिक से अधिक भूमि जागीर के रूप मे दे दी गई थी। औरगजेब के राज्यकाल के १०वें वर्ष सम्पूर्ण साम्राज्य की कुल जमादामी ९२४ करोड दाम मे से ७२५ करोड दाम की आय की भूमि जागीरो के रूप मे थी या खालिसा-शरीफा के रूप मे थी, जिसका प्रवन्ध शाही अफसरों के हाथ मे था। अन्य शब्दो मे जवकि कुल जमा का १/५ भाग खालिसा शरीफा से प्राप्त लगान, जिस पर केवल सम्राट का ही अधिकार था, ४/५ भाग पर जागीरदारो का अधिकार था। जागीरें भी कई प्रकार की होती थी। जब जात व सवार मनसव के लिये

नकद वेतन न देकर जागीर दी जाती थी तो उस जागीर को तनख्वाह-जागीर कहते थे। जब जागीर प्रदान करते समय कुछ शर्तें मनसबदार पर या उस व्यक्ति पर जिसे कि जागीर दी जाती थी, तो उस जागीर को मश्रुत या शर्तें युक्त जागीर कहा करते थे। जब जागीर के एवज मे अभ्यर्पीनी से किसी प्रकार का कार्य नही लिया जाता था और इस जागीर का उसके मनसब से कोई सम्बन्ध न होता था, तो उस जागीर को इनाम मे दी गई जागीर कहा जाता था। और जब अपने ही प्रदेश मे, जहाँ का अयर्भपती (assignee) निवासी हो, जागीर प्रदान की जाती थी तो उसे वतन-जागीर कहते थे। सम्राट इस बात का निर्धारण करता था कि मनसबदार को जागीर प्रदान की जावेगी या उसे नकद वेतन दिया जावेगा। जब भी किसी अभ्यर्पिती को जागीर परगने या गाँव मे प्रदान किये जाते थे तो उस परगने या गाँव की जमा या प्राप्त होने वाले (लगान की अनुमानित राशि) और उस व्यक्ति का मनसब एव मनसब के अनुसार परिमित दर (Sanctioned schedule) के मुताबिक उसको यदि वेतन दिया जाना तो उसे कितना मिलता, का विशेषरूप से ध्यान रक्खा जाना था। इसे मुर्करर तलब करते थे। यदि उस अभ्यर्पिती के लिये परगने या गाँव की पूर्ण जमा के स्थान पर जमा का एक भाग ही लेने के लिये आदेश होता था, तो उस अनुपात का विवरण भी दे दिया जाता था। अधिकतर तो पूरे परगने की लगान की रकम एक ही व्यक्ति के वेतन के एवज मे जागीर के रूप मे दे दी जाती थी। लेकिन कभी-कभी ऐसा भी होता था कि दीवानी विभाग परगने की जमा का, कई जागीरदारो मे बँटवारा कर दिया करता था। अनुमानित जमा और वास्तविक प्राप्त हुई जमा मे सदैव अन्तर रहता था। इस अन्तर के कारण, मनसबदार या जागीरदारो को क्षति न उठानी पडे इसलिए माह नियम (rule of months) के द्वारा अनुमानित और प्राप्त जमा के मध्य अन्तर की धनराशि का भुगतान कर उसे दिया जाता था। यदि शामिल की गई जमा की धनराशि अनुमान से बहुत ही कम हुई, तो जागीरदार के वेतन का समजन या तो शाही राजकोष द्वारा या उसे अतिरिक्त जागीरे देकर कर दिया जाता था। यदि हासिल जमा जागीरदार के वेतन से या जागीरदारो के लिये अनुमोदित किये गये 'मासिक अनुपात' (Month ratio) से अधिक होती थी तो अभ्यर्पिती से यह राशि वसूल कर ली जाती थी या अभ्यर्पिती के सवार मनसब मे वृद्धि कर बकाया धनराशि का समजन कर दिया जाता था। वतन-जागीरो को छोडकर अन्य जागीरें एक व्यक्ति से लेकर दूसरे को भी दी जाती थी। इस अन्तरण के कारण जागीरदारो को अधिकाशत उस स्थिति मे जबकि वर्ष के मध्य मे उसका स्थानान्तरण कर दिया गया हो, नुकसान ही उठाना पडता था, चूँकि बगाल व उडीसा को छोडकर सभी स्थानो मे खरीफ व रबी की फसल एक ही तरह की नही होती थी। कभी-कभी तो जागीरदार को बकाया लगान वसूल कर शाही-कोष मे भिजवाना पडता था। लेकिन जागीरो का अन्तरण भी प्रशासनिक आवश्यकता थी चूँकि उसका सम्बन्ध जागीरदारो या मनसबदारो के अन्तरण के साथ था। साम्राज्य की एकता एव अखण्डता बनाये रखने के लिये यह आवश्यक था कि जागीरो का अन्तरण होता रहे, ताकि जागीरदार या सेनाध्यक्ष अमुख प्रदेश मे स्थानीय जनता से मिलकर शक्तिशाली न बन सके। इस व्यवस्था के अन्तर्गत वे कभी भी किसी प्रदेश को अपना नही कह सकते थे

तथा उन्हे सदैव सम्राट की इच्छा पर ही निर्भर रहना पडता था। किन्तु वतन-जागीरों के सम्बन्ध मे दूसरी बाते थी। उनका अन्तरण नही होता था। चूँकि प्रादेशिक सरदारों तथा जमीदारो की यह जागीरें हुआ करती थी, अत वे उन्ही के हाथो में रहने दी जाती थी। सैद्धान्तिक रूप से सम्राट को यह अधिकार होता था कि वतन-जागीरो मे उत्तराधिकार के प्रश्न को वह ही तय करें। किन्तु प्रचलित नियमो के अनुसार न तो वह वतन-जागीरो को या उनके किसी भी भाग को, वहाँ के शाही-वंश (Ruling Dynasty) के हाथो से लेता था। आमतौर पर मुगल सम्राट औरंगजेब ने, केवल मारवाड के राज्य को छोडकर, किसी भी हिन्दू नरेश एव जागीरदार की वतन जागीरो को हाथ नहीं लगाया। जब उसने जसवन्तसिंह की वतन-जागीरो को हाथ लगाया तो राठौड तिलमिला उठे, क्योकि यह बात प्रचलन के विरुद्ध थी। जिन व्यक्तियो के पास वतन-जागीरें होती थी, यदि मनसब के अनुसार उन्हे निर्धारित वेतन की पूरी धनराशि अपनी वतन-जागीरों से हासिल जमा मे नही मिल पाती थी, तो उन्हें अतिरिक्त जागीरें, जोकि तनख्वाह जागीरें कही जाती थी, प्रदान की जाती थी। वतन-जागीरदारो को जो जागीरें प्रदान की जाती थी, चाहे वे तनख्वाह के रूप मे हो या इनाम के रूप मे उनका भी अन्तरण होता था।

सभी प्रकार के जागीरदारो के कुछ वित्तीय अधिकार (Financial Rights) हुआ करते थे जोकि सम्राट उन्हे जागीर प्रदान करते समय देता था। स्थानीय अफसरो, गाँव के मुखिया किसानो को इस बात की सूचना दे दी जाती थी कि वे सच्चाई से माल-ए-वाजिबी तथा हुकूक-ए-दीवानी के बारे मे अमुक जागीरदार से जिसेकि अमुक प्रदेश की जागीर दी गई है, के प्रतिनिधि (गुमाश्ते) से सम्पर्क स्थापित करें। जागीरदारो को भूमिका तथा अन्य प्राधिकृत करो को वसूल करने के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार के अधिकार न थे। भूमिकर एव प्राधिकृत करो को वसूल करने के अधिकार जो जागीदारो को प्रदत्त किये जाते थे, वे राजकीय नियमो के अनुसार ही हुआ करते थे। राजकीय अधिनियमो द्वारा कि किस प्रकार भूमिकर का आकलन (Assessment) होगा और किस प्रकार वह वसूल किया जाएगा, उनसे जागीरदार बधा हुआ होता था। अपने राज्यकाल के ८ वे वर्ष औरंगजेब ने रसिकदास करोडी के नाम जो फर्मान जारी किया, उसमे उसने इस बात का स्पष्टत उल्लेख कर दिया था कि जागीरदारो के परगनो मे आमिल फरमान मे दिये हुए नियमो का पालन करेंगे। औरंगजेब के अन्य फरमानो द्वारा जागीरदारो के लिये यह आदेश था कि वे उत्पादन का १/२ भाग से अधिक भूमिकर के रूप मे नही लेंगे। सैद्धान्तिक रूप से जागीरदार भूमिकर के अतिरिक्त अन्य करो, यदि प्रशासन ने उसे ऐसा करने की अनुमति प्रदान की हो, को भी वसूल कर सकता था। अपनी जागीर में भूमिकर तथा अन्य करो को वसूल करने के लिये जागीरदार अपने प्रतिनिधियो को नियुक्त करता था।

सभी जागीरो की व्यवस्था का रूप एक जैसा न था। राजकुमारो की जागीर का प्रबन्ध उसी प्रकार से होता था जैसाकि खालसा भूमि का। उनकी जागीरो मे, करोडी, अमीन, फोतादार, कारकून आदि अधिकारी हुआ करते थे। कभी-कभी एक से अधिक पद

प्रकार के अफसरो को जागीरदारो की जागीरो मे नियुक्त करने की प्रथा जारी रक्खी। प्रत्येक परगने मे सम्राट एव प्रशासन के हितो की रक्षा के लिये दो अधिकारी, कानूनगो, चौधरी और दक्षिण मे देशमुख, जिनकी नियुक्ति सनद के द्वारा होती थी, रहते थे। यह अधिकारी वशानुगत होते थे लेकिन सम्राट उन्हे हटा भी सकता था । आमतौर पर वे जीवन-पर्यन्त अपने पदो पर बने रहते थे, जबकि जागीरदार की जागीर आन्तरित होती रहती थी। प्रत्येक जागीरदार या उसके प्रतिनिधि को इन्ही दो अफसरो पर, भूमि-कर के आकन एव उसको एकत्र करने के लिये, निर्भर रहना पडता था। इन दोनो अफसरो का यह कर्त्तव्य था कि वे जागीरदार या उसके प्रतिनिधि की भूमि-कर का आकन एव उसके वसूल करने मे भी उसकी सहायता करें और उनके हिसाब-किताब की जाँच-पडताल करें कि कही उन्होने किसानो से अधिक कर तो वसूल नही कर लिया है या राजकीय नियमो का उल्लघन तो नही किया है। जागीर मे शाति एव सुव्यवस्था बनाये रखने के लिये कभी-कभी सम्राट फौजदार की भी नियुक्ति कर दिया करता था। कभी-कभी जागीरदार स्वय फौजदार का पद अपने ही लिए प्राप्त कर लेता था। औरगजेब के राज्य-काल मे ऐसे अनेक उदाहरण मिलते है जबकि जागीरदारो को ही फौजदार का पद एव उसके अधिकार प्रदान कर दिये गये। जागीरदारो को न्यायिक अधिकार नही होते थे अतएव, मुकदमो का निबटारा करने के लिये सम्राट द्वारा प्रत्येक परगने मे काजी की नियुक्ति होती थी। काजी जागीरदार के नियन्त्रण से मुक्त एक स्वतन्त्र अधिकारी होता था और उसकी आय का स्रोत मदद-ए-मआश अनुदान हुआ करता था। जागीर की दशा एव जागीरदारो के व्यवहार के बारे मे सम्राट को सूचना देने के लिए प्रत्येक जागीर मे वाकयानवीस और सवानेहनवीस हुआ करते थे। जागीर मे रहने वाले लोग या किसान, दरबार मे जागीरदारो के व्यवहार के विरुद्ध शिकायत कर सकते थे और ऐसी स्थिति मे सम्राट को जागीरदार को दण्ड देने का पूर्ण अधिकार था। सम्राट को यह भी अधिकार था कि वह जागीर की प्रशासनिक व्यवस्था की जाँच-पड़ताल करे। ऐसी स्थिति मे जबकि जागीरदार राजकीय अधिकारियो द्वारा लगान के बारे मे सूचनाएँ एकत्र करने मे बाधा पहुँचा रहा हो, तो भी सम्राट को उस जागीरदार के विरुद्ध कार्यवाही करने का अधिकार था। कभी-कभी सम्राट जागीरो के प्रशासन को सुधारने के लिये हुक्म भी दिया करता था और उनके हितो की रक्षा भी किया करता था । जागीरदारो के हितो की रक्षा करने का भार प्रशासन पर भी था। सक्षेप मे औरगजेब के राज्यकाल मे जागीरदारो पर प्रशासन का इतना कठोर नियन्त्रण था कि उन्होने कभी भी स्वतन्त्रता अथवा अर्द्ध-स्वतन्त्र होने की चेष्टा नही की।

जागीरदारो का किसानो के प्रति किस प्रकार का व्यवहार था ? इस विषय पर भी डा० अतहरअली ने पूर्णरूप से प्रकाश डाला है। बर्नियर के अनुसार जागीर के अन्तरण होने के कारण जागीरदार कभी भी जागीर को न समृद्धशाली बनाने की चेष्टा करते थे और न ही उसकी व्यवस्था की ओर न ध्यान देते थे । उनका मुख्य उद्देश्य किसानो पर अत्याचार कर उनसे अधिक से अधिक धन वसूल करना था और यही कारण था कि अत्याचार बढता गया और गाँव के गाँव उजडने लगे। मुगल साम्राज्य के पतन का यही

प्रकार के अफसरों को जागीरदारों की जागीरों में नियुक्त करने की प्रथा जारी रखी। प्रत्येक परगने में सम्राट एवं प्रशासन के हितों की रक्षा के लिये दो अधिकारी, कानूनगो, चौधरी और दक्षिण में देशमुख, जिनकी नियुक्ति सम्राट के द्वारा होती थी, रहते थे। यह अधिकारी वंशानुगत होते थे लेकिन सम्राट उन्हें हटा भी सकता था। आमतौर पर वे जीवन-पर्यन्त अपने पदों पर बने रहते थे, क्योंकि जागीरदार की जागीर परिवर्तित होती रहती थी। प्रत्येक जागीरदार या उसके प्रतिनिधि को इन्हीं दो अफसरों पर, भूमिकर के आकलन एवं उसकी वसूल करने के लिये, निर्भर रहना पड़ता था। इन दोनों अफसरों का यह कर्त्तव्य था कि वे जागीरदार या उसके प्रतिनिधि को भूमिकर का आकलन एवं उसके वसूल करने में भी उसकी सहायता करें और उनके हिसाब-किताब की जाँच-पड़ताल करें कि कहीं उन्होंने किसानों से अधिक कर तो वसूल नहीं कर लिया है या सरकारी नियमों का उल्लंघन तो नहीं किया है। जागीर में शांति एवं सुव्यवस्था बनाये रखने के लिये कभी-कभी सम्राट फौजदार की भी नियुक्ति कर दिया करता था। कभी-कभी जागीरदार स्वयं फौजदार का पद अपने ही लिए प्राप्त कर लेता था। औरंगजेब के राज-काल में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जबकि जागीरदारों को ही फौजदार का पद एवं उसके अधिकार प्रदान कर दिये गये। जागीरदारों को न्यायिक अधिकार नहीं होते थे अतएव, मुकदमों का निपटारा करने के लिये सम्राट द्वारा प्रत्येक परगने में काजी की नियुक्ति होती थी। काजी जागीरदार के नियन्त्रण से मुक्त एक स्वतन्त्र अधिकारी होता था और उसकी आय का स्रोत मदद-ए-मआश अनुदान हुआ करता था। जागीर की दशा एवं जागीरदारों के व्यवहार के बारे में सम्राट को सूचना देने के लिए प्रत्येक जागीर में वाक़यानवीस और सवानेहनवीस हुआ करते थे। जागीर में रहने वाले लोग या किसान, दरबार में जागीरदारों के व्यवहार के विरुद्ध शिकायत कर सकते थे और ऐसी स्थिति में सम्राट को जागीरदार को दण्ड देने का पूर्ण अधिकार था। सम्राट को यह भी अधिकार था कि वह जागीर की प्रशासनिक व्यवस्था की जाँच-पड़ताल करे। ऐसी स्थिति में जबकि जागीरदार राजकीय अधिकारियों द्वारा लगान के बारे में सूचनाएं एकत्र करने में बाधा पहुँचा रहा हो, तो भी सम्राट को उस जागीरदार के विरुद्ध कार्यवाही करने का अधिकार था। कभी-कभी सम्राट जागीरों के प्रशासन को सुधारने के लिये हुक्म भी दिया करता था और उनके हितों की रक्षा भी किया करता था। जागीरदारों के हितों की रक्षा करने का भार प्रशासन पर भी था। संक्षेप में औरंगजेब के राज्यकाल में जागीरदारों पर प्रशासन का इतना कठोर नियन्त्रण था कि उन्होंने कभी भी स्वतन्त्रता अथवा अर्द्ध-स्वतन्त्र होने की चेष्टा नहीं की।

जागीरदारों का किसानों के प्रति किस प्रकार का व्यवहार था? इस विषय पर भी डा० अतहरअली ने पूर्णरूप से प्रकाश डाला है। बर्नियर के अनुसार जागीर के अन्तरण होने के कारण जागीरदार कभी भी जागीर को न समृद्धशाली बनाने की चेष्टा करते थे और न ही उसकी व्यवस्था की ओर न ध्यान देते थे। उनका मुख्य उद्देश्य किसानों पर अत्याचार कर उनसे अधिक से अधिक धन वसूल करना था और यही कारण था कि अत्याचार बढ़ता गया और गाँव के गाँव उजड़ने लगे। मुगल साम्राज्य के पतन का यही

मुख्य कारण था। बर्नियर के विचारो का समर्थन भीमसेन ने भी किया है। डा० अतहरअली ने भी जागीरदारो का किसानो के प्रति क्रूर व्यवहार को स्वीकार किया है किन्तु वे ऐसा नही मानते कि सर्वत्र ऐसा ही था। उन्होने इस सम्बन्ध मे दो प्रश्न किये हैं कि क्या सम्राट एव प्रशासन की इच्छा के विरुद्ध जागीरदार अपनी इच्छानुसार कुछ कर सकते थे ? या जागीरदारो के अत्याचारो को देखकर सम्राट स्वय, यदि उसकी इच्छा हो तो, उनके अत्याचारो को रोकने के लिये किसी प्रकार की कार्यवाही कर सकता था ? दूसरे प्रश्न का उत्तर उन्होने पहले ही दे दिया था कि जागीरदार पर सम्राट पूर्णरूप से नियत्रण बनाये रखता था। जहाँ तक पहले प्रश्न का सवाल है, उस युग मे सम्राट किसानो और गाँवो को उजडते हुए नही देख सकता था, चूँकि दोनो का ही सम्बन्ध साम्राज्य की समृद्धि से सलग्न था। किसानो के भूखो मरने से पैदावार के कम होने से, साम्राज्य की आय कम होने से साम्राज्य की नीव का हिल उठना स्वाभाविक है। यह बात औरगजेब को मालूम थी। अपने राज्यकाल के ८ वे व १२वे वर्ष मे उसने जो फरमान जारी किये उसके द्वारा उसने स्पष्ट आदेश दिया कि लगान का आकन और उसे एकत्र करने की व्यवस्था ठीक होनी चाहिए ताकि किसानो पर कर का बोझ न पडे और उनके साथ अत्याचार न हो। उसने जागीरदारो को भी समय-समय पर आदेश दिये कि वे गैर-कानूनी कर वसूल न करे। ऐसी स्थिति मे जबकि प्रशासन किसानो के प्रति जागरूक हो, जागीरदारो द्वारा उन पर अत्याचार करने की सम्भावना कम थी। वास्तव मे औरगज़ेब के शासनकाल के उत्तरार्ध मे किसानो की दशा के खराब होने का कारण, चीजो के मूल्य मे वृद्धि और अधिक लगान की माँग का होना था। लगान की दर मे वृद्धि होने के कारण पैदावार कम होने लगी जिसका प्रभाव किसानो और प्रशासन दोनो पर ही पडने लगा। यही कारण है इस काल मे अनुमानित जमा और प्राप्त जमा के आँकडो मे अन्तर रहने लगा। जैसाकि पहले कहा जा चुका है कि किसानो की दशा सभी जगह खराब नही थी, और न ही सभी जगह जागीरदार उन पर अत्याचार ही कर रहे थे। वास्तव मे औरगज़ेब के राज्यकाल के अन्त मे दक्षिण मे विशेषतौर से पुराने जागीरदारो ने किसानो पर अत्याचार करना शुरू किया चूँकि प्रशासन को दक्षिण मे युद्ध करने के लिये धन की आवश्यकता थी। दक्षिण मे बढती हुई युद्धो की सख्या, के कारण धन की माँग भी बढती गई और इस प्रकार प्रशासन के जागीरदारो को छूट देनी पडी अथवा वह उन पर नियन्त्रण बनाये न रख सका। अतएव बर्नियर, मनूची तथा भीमसेन के कथन दक्षिण के किसानो के बारे मे लागू हो सकते है।

औरगज़ेब के राज्यकाल के मध्य तक तो जागीरदारी–प्रथा कुशलतापूर्वक काय करती रही। परन्तु औरगजेब के राज्यकाल के अन्तिम २६ वर्षो मे दक्षिण मे निरन्तर युद्धो के कारण, साम्राज्य का आर्थिक साधनो पर दबाव पडने के कारण, तथा सम्राट की उत्तरी भारत मे अनुपस्थिति के कारण, एव प्रशासन के अस्त-व्यस्त हो जाने के कारण, जागीरदारी-प्रथा की कार्य-क्षमता क्षीण हो गई। इन २६ वर्षों में जागीरे अव्यवस्थित हो गई। जागीरदारी-प्रथा मे सर्वप्रथम सकटावस्था उस समय उत्पन्न हुई जबकि अमीरो को देने के लिये जागीरे ही नही रह गई

और सम्राट ने वेतन माँग करने वाले व्यक्तियों के रजिस्टर पर बार-बार यह लिखना आरम्भ किया कि एक अनार सौ बीमार। लेकिन ऐसा करने पर भी जब उसे मुसीबत से छुटकारा न मिला तब उसने अभियान पर भेजे जाने वाले उच्च-अधिकारियों को सन्तुष्ट रखने के लिये, परगनों के लगान का हिसाब-किताब रखने वाले रजिस्टरों को मँगा कर अनेक व्यक्तियों के अनुदान रद्द कर दिये और उनकी जागीरें उन्हें प्रदान कर दी। इसके ऐसा करने से बहुत से लोग, बे-जागीर हो गये, उनकी आय का कोई साधन न रहा और उनका जीवन कष्टमय हो गया। १६९१ में औरंगजेब ने बख्शी को आदेश दिया कि वह नये आदमियों को मनसब प्रदान करने की सिफारिश न करें। यहाँ तक कि जिन व्यक्तियों की मनसब पर नियुक्तियाँ इससे पूर्व हो चुकी थी, उनके लिये भी जागीरें उपलब्ध न थी। जागीरों को प्राप्त करने के लिये मनसबदारों ने घूस देना शुरू किया। साधारण मनसबदार जिनके पास कि घूस में देने के लिये कुछ भी न था, की दशा और भी खराब हो गई। निराशामय जीवन से ऊबकर उन्होंने दक्खिनियों के विरुद्ध, जिन्होंने कि खानाजाद अमीरों को उनकी जागीरों से वंचित कर दिया था, गुटबन्दी प्रारम्भ की। जागीर के अन्तरण करने के सम्बन्ध में राजकीय आदेशों का उल्लंघन करना साधारण बात हो गई, क्योंकि सभी जागीरदार यह जानते थे कि यदि उन्होंने अपनी जागीर छोड़ दी तो उन्हें इसके बदले में दूसरी जागीर नहीं मिलेगी। औरंगजेब के शासनकाल के अन्तिम वर्षों में तो जागीरदार विद्रोही नहीं हुए किन्तु वे दिन दूर नहीं थे जबकि प्रशासन के लिये वे सिर-दर्द बन गये।

संक्षेप में इस अध्याय में जैसाकि उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि डा० अतहरअली ने जागीरदारी-प्रथा, उसके तत्त्वों एवं संगठन पर प्रकाश डालते हुए यह बताया है कि औरंगजेब के राज्यकाल के उत्तरार्द्ध की अपेक्षा पूर्वार्द्ध में प्रशासन का जागीरदारों पर सुचारु ढंग से नियन्त्रण बना रहा परन्तु जब पुराने खानाजादों का स्थान, दक्खिनियों ने जिन्हें कि दक्षिण में युद्धों के दौरान, औरंगजेब ने उच्च-पद एवं जागीरें प्रदान कर अपने पक्ष में करने में कोई भी कसर न उठा रखी तो पुराने जागीरदारों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और उनमें असन्तोष फैला। दूसरी ओर दक्षिण के युद्धों में व्यस्त होने के कारण एवं उन युद्धों के कारण औरंगजेब पूर्व की भाँति उन जागीरदारों पर नियन्त्रण बनाये न रख सका जिसके कारण कुछ जागीरदारों ने किसानों को सताना शुरू किया, जिसके कारण साम्राज्य की आर्थिक स्थिति खराब होने लगी। सैनिक आवश्यकता के कारण औरंगजेब ने मनसबदारों की संख्या तो बढ़ा दी लेकिन उनका ध्यान उपलब्ध जागीरों की ओर न गया। जागीरों के लिये मनसबदारों की बढ़ती हुई माँग ही आगे चलकर मुगल साम्राज्य के पतन का कारण बनी।

चौथा अध्याय उमराव और राजनीति से सम्बद्ध है। सैद्धान्तिक रूप से यद्यपि सम्राट के असीमित अधिकार होते थे लेकिन बिना अमीरों या अफसरों या मनसबदारों की सहायता के उसके लिये शासन करना असम्भव था। उन्हीं के द्वारा वह अपनी नीतियों को कार्यान्वित कर सका था। अतः अमीरों के हित और उनके विचार ही हैं, प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से उसकी नीतियों को प्रभावित करते थे। चूँकि अमीर

विभिन्न जातियो एव कुलो के हुआ करते थे, विभिन्न प्रश्नो पर उनके विचारो मे मतभेद होना स्वाभाविक ही था। यही मतभेद गुटबन्दी के लिये जिम्मेवार था। इसमे तनिक भी सन्देह नही कि मुगल सम्राटो ने केन्द्रीयकरण की नीति मनसबदारी प्रथा, जागीरो को अन्तरित करने की नीति द्वारा गुटबन्दी को दबाने एव गुटबन्दी को नियन्त्रित करने की सदैव चेष्टा की किन्तु इस कार्य मे उन्हे पूर्णत सफलता प्राप्त न हो सकी। शाहजहा के राज्यकाल के उत्तरार्ध मे उसके प्रत्येक पुत्र ने, यह सोचकर कि भविष्य मे उत्तराधिकार का युद्ध अवश्य होगा, अमीरो को अपने पक्ष मे करना प्रारम्भ किया, जिसके कारण दरबार मे विभिन्न गुट बन गये। सामूगढ के युद्ध से पूर्व दारा, औरगजेब, शाहशुजा और मुराद के समर्थको मे मिले-जुले जातीय तत्त्व विद्यमान थे। उदाहरणार्थ एक हजार और उसके ऊपर के १२४ मनसबदारो मे से जिन्होंने कि औरगजेब का पक्ष लिया, २० तूरानी, २७ ईरानी, २३ अफगान, ३३ अन्य मुसलमान, ६ राजपूत, १० मराठे, अन्य २ हिन्दू थे। इसी प्रकार दारा के ८७ समर्थको मे से इसी श्रेणी मे १६ तूरानी, २३ ईरानी, एक अफगान, २३ अन्य मुसलमान, २२ राजपूत और दो मराठे थे। १००० और उसके ऊपर के १० मनसबदारो मे से, ३ तूरानी, १ ईराकी, २ अफगान और ५ अन्य मुसलमानो ने शाहशुजा की सहायता की। इसी प्रकार १००० और उसके ऊपर के ११ मनसबदारो मे से १ ईराकी, १ अफगान, ७ अन्य मुसलमानो तथा दो राजपूतो ने मुराद की सहायता की। सिंहासन पर बैठने के उपरान्त औरगजेब ने सभी जातीय तत्त्वो की सहायता मे राज्यकाल के प्रथम अन्तराल (१६५६-१६६६) मे अभूतपूर्व सामरिक कार्यवाहिया प्रारम्भ हुई (देखिए पृ० ६७) इस काल मे सामरिक दृष्टि से अग्रगामी नीति का अनुसरण किया गया। किन्तु दूसरे अन्तराल (१६६६-१६७६) मे किन्ही कारणों से औरगजेब को ऐसी नीति अपनानी पडी जोकि उसके पूर्वगामियों की नीति से विरुद्ध थी। १६६६ के उपरान्त उसके लिये परिस्थितियाँ बदलने लगी। इन परिस्थितियो का अवलोकन लेखक ने पृ० ६८ पर किया है। १६६६ मे शाहजहा की मृत्यु हुई और औरगजेब का अब कोई प्रतिद्वन्दी न रहा। १६६६ ई० मे साम्राज्य के विस्तार के लिये जिस नीति का अनुसरण किया गया वह असफल सिद्ध हुई। आसाम, कूच बिहार, महाराष्ट्र और बीजापुर मे जब उसके सेनानायको को सफलता प्राप्त नही हुई तो साम्राज्य विस्तार की नीति को उसने थोडे समय के लिये रख दिया। लेकिन ऐसा करने पर भी साम्राज्य मे शान्ति बनी न रही। गोकला जाट ने विद्रोह किया। १६७२ मे सतनामियो ने, १६६७ मे युसुफभाइयो ने १६७२ मे अफरीदियो ने विद्रोह किया तथा १६७० मे मराठो ने मुगलो के विरुद्ध पुन युद्ध प्रारम्भ किये और सूरत को दूसरी बार लूटा। १६६६ के पूर्व औरगजेब को यह घमण्ड था कि उसने तलवार के बल पर शाहजहा को बन्दी बनाया तथा अपने भाइयो को मौत के घाट उतारा लेकिन १६६६ के पश्चात जो भी हुआ उसको देखकर उसकी आशाओ पर पानी फिर गया। शीघ्र ही उसकी असफलताओ ने उसे धर्म का सहारा लेने पर बाध्य कर दिया। उसने नई धार्मिक नीति को अपनाकर शाही ताज के चारो ओर धार्मिक प्रभामण्डल बनाने की चेष्टा की। उसने हिन्दुओ के प्रति भेद की नीति अपनाई और उलमा-वर्ग को अपने पक्ष मे करने लिये १६७६ मे जजिया लगाया तथा राजपूतो के प्रति भी सहृदयता की

नीति छोड दी। उसने राजपूतो को कम से कम सख्या मे भर्ती करने और उनकी पदोन्नति न करने की नीति अपनाई। जसवन्तसिंह की मृत्यु के पश्चात् अल्पायु अजीतसिंह के रहते हुए भी उसने इन्द्रसिंह को जोकि मारवाड मे बहुत ही बदनाम था, टीका दे दिया। जिसके फलस्वरूप राठौडो और सिसौदियाओ ने प्रशासन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। लेकिन, विपत्ति की इन घडियो मे कछवाहो, हाडाओ, भट्टियो, और बीकानेर के राठौडो ने मुगल सम्राट का ही साथ दिया और विद्रोह को दबाने मे उनकी सहायता की। अन्य शब्दो मे औरगज़ेब की धार्मिक एव राजपूत नीति के कारण भी मुगल उमराव-वर्ग की शक्ति ज्यो की त्यो बनी रही।

धार्मिक एव राजपूत नीति के सम्बन्ध मे तो औरगज़ेब के अमीरो के विचार तो मालूम नही लेकिन दक्षिण मे मुगलो की नीति के सम्बन्ध मे मुगल उमराव-वर्ग अवश्य विभाजित था। कुछ अमीर दक्षिण मे निरन्तर युद्ध चलते रहने के पक्ष मे थे और कुछ दक्षिण को शीघ्र विजित कर मुगल साम्राज्य मे विलय करने के पक्ष मे। जो अमीर पहले मत के समर्थक थे उनका यह कहना था कि हिन्दुस्तान के सैनिको अथवा मुगल सैनिको के भरण-पोषण के लिए दक्षिण एक रोटी के समान है। उदाहरणार्थ-औरगज़ेब के काल मे नामदार खान ने जब शायस्ता खान से शिवाजी पर आक्रमण करने के लिए कहा तो शायस्ता खान जैसे दूरदर्शी अमीर ने तुरन्त उत्तर देते हुए कहा कि यदि दक्षिण मे युद्ध समाप्त हो गया तो सम्राट कन्धार पर आक्रमण करने का आदेश दे देगा और यदि वहाँ सफलता प्राप्त हुई तो सैनिको को छुट्टी दे दी जाएगी। वास्तव मे दक्षिण मे जानबूझ कर युद्ध जारी रखना, समस्या का एक पहलू नही था। इस समस्या का दूसरा पहलू भी था अर्थात् दक्षिण मे मुगल अधिकृत प्रदेशो के सीमित साधनो मे दक्षिण मे तैनात मुगल सेनाओ का खर्च उठाने मे कठिनाइयाँ। निरन्तर युद्ध के कारण दक्षिण के लोगो को अधिकाधिक क्षति उठानी पडी। आय के स्रोत स्वत विनष्ट हो गए। जो मुगल अमीर वहाँ नियुक्त किये गये उन्हे अपने सैनिको को अल्पसख्या मे रखने मे कठिनाइयो का सामना करना पडा। अत उनके लिए दक्षिण मे अग्रिम नीति का गुप्तरूप से विरोध करना स्वाभाविक ही था। यह अमीर दक्खिनियो का पक्ष लेने लगे। औरगज़ेब के राज्यकाल के प्रारम्भ मे शाहआलम ने मराठो को कुचलने मे असावधानी दिखाई। उसके बाद जयसिंह को दक्षिण का वायसराय नियुक्त किया गया। शाहआलम व जसवन्तसिंह की शिफारिश पर शिवाजी को क्षमा कर दिया, उसके पुत्र सम्भाजी को ५०००/५००० का मनसब प्रदान किया गया और शिवाजी को इस बात की अनुमति प्रदान की कि वह बीजापुर राजा के अधिक से अधिक प्रदेश अपने हाथो मे ले ले या अपने ही प्रदेश मे अपनी कार्य-वाहियो को सीमित रखें तथा दक्षिण के सूबेदार के परामर्श के अनुसार कार्य करें। १६६८ ई० मे शाहजादा शाहआलम दक्षिण का सूबेदार था। शाहजादा और राजा जसवन्तसिंह, दोनो ही ने मराठो को दण्ड देने मे जो कार्यवाही की वह बहुत ही नरम थी, जिसके कारण, दिलेरखान और शाहआलम तथा दिलेरखान और जसवन्तसिंह मे मन-मुटाव उत्पन्न हुआ। १६८२-८३ ई० में यह खबर फैली कि शाहआलम, सैय्यद अब्दुल्ला खान, मोमीनखान नज्म सानी और सादिक खान की बीजापुर के शासक के साथ साठ-गाठ

है। इस पर औरंगजेब ने शाहआलम को डॉटा-फटकारा और सैय्यद अब्दुल्ला को बन्दी बना लिया तथा अन्य व्यक्तियो को पदच्युत कर दिया। कालान्तर मे औरंगजेब ने शाह आलम और बहादुरखान के कोकलताश को, गोलकुण्डा के शासक अबुलहसन के प्रति उदारता दिखाने के कारण पुन डाटा-फटकारा। १६८५ मे शम्भाजी के प्रति मैत्री दिखाने तथा कुतुबशाह से गुप्त-सम्बन्ध होने के कारण, शाहआलम को बन्दी बना लिया गया। दक्षिण के स्वतन्त्र राज्यो के शासको के प्रति यही रुख अन्य अमीरो का भी रहा। १६७२ ई० मे बहादुरखान को दक्षिण का वाइसराय नियुक्त किया गया और उसने भी उनसे मैत्रीपग बनाये रखने का प्रयास किया जिसके कारण, मुगल उमराव दिलेरखान तथा बीजापुर के अफग़ान अमीरो के सरदार अब्दुलकरीम ने उस पर अभियोग लगाया कि उसे शिवाजी के प्रति सहानुभूति है। मराठो के प्रति उदार दृष्टिकोण के कारण औरंगजेब का विश्वास बहादुरखान पर से उठ गया और उसने १६८८ ई० मे दक्षिण से हटाकर जाटो के विद्रोह को दबाने के लिए भेज दिया। महाबत खान भी दक्षिण मे मुगल प्रशासन की मराठो के विरुद्ध सैनिक कार्यवाहियों के पक्ष मे न था। एक बार जब औरंगजेब ने उससे और जाफरखान से कहा कि शिवाजी को कुचलना बहुत ही आवश्यक है तो महाबत खान ने छूटते ही कहा कि शिवाजी के विरुद्ध कोई सेना भेजने की आवश्यकता नही है, काजी का फतवा ही उपयुक्त होगा। महाबतखान शिवाजी के पक्ष ही मे रहा और उसने उसके विरुद्ध सैनिक कायवाहियाँ करने मे सदैव ढिलाई दिखाई। कालान्तर मे उसको हटा कर बहादुर खान कोकलताश को मराठो के विरुद्ध भेजा गया। कुछ राजपूत मनसबदार भी औरंगजेब की मराठो के प्रति नीति के विरुद्ध थे।

कुछ अमीर तो मुगल प्रशासन की बीजापुर व गोलकुण्डा के विरुद्ध की जाने वाली सैनिक कार्यवाहियो के पक्ष मे बिल्कुल ही न थे। उदाहरणार्थ—दाऊदखान कुरेशी ने जयसिंह द्वारा बीजापुर के विरुद्ध की जाने वाली सैनिक कार्यवाहियो का खुलकर विरोध किया और यह कहा कि यह अभियान कुरान के विरुद्ध है। १६७७ ई० मे बहादुरखान कोकलताश ने बीजापुर पर आक्रमण करने की तैयारिया प्रारम्भ की, तो मुगल उमराव-वग के अफगान अमीरो ने बीजापुर के अफगान अमीरो के सरदार अब्दुलकरीम को राय दी कि वे बहादुरखान कोकलताश से सन्धि कर ले नही तो उसके आक्रमण के सामने वे ठहर नही सकेंगे। जब औरंगजेब को यह बात मालूम हुई तो उसको अफगानो का व्यवहार बहुत ही बुरा लगा और उसने १६७८ मे असद खान को दक्षिण का वाइसराय नियुक्त किया। मुगल उमराव वग के कुछ ईरानी अमीर भी गोलकुण्डा के प्रशासन की नीति के विरुद्ध थे। वे यह नही चाहते थे कि गोलकुण्डा के राज्य को विजित कर मुगल साम्राज्य मे मिला लिया जाय।

लेकिन इसके विपरीत मुगल उमराव-वग मे ऐसे भी अमीर थे जो दक्षिण की ओर साम्राज्य के विस्तार किये जाने के पक्ष मे थे। शायस्ताखान की पराजय के उपरान्त मिर्जा राजा जयसिंह ने दक्षिण मे मुगल प्रतिष्ठा को पुन प्रतिष्ठित करने का कार्य अपने हाथो मे लिया। उसने उग्र-नीति अपनाई लेकिन साथ ही साथ उसने मराठो को अपनी ओर मिलाने की चेष्टा भी की। इसमे तनिक भी सन्देह नही कि

जब शिवाजी मुगल दरबार में उपस्थित हुए तो उन्हें मनसब प्रदान करने की नीति का जसवन्तसिंह, जाफरखान और रदअन्दाज खान आदि सरदारों ने घोर विरोध किया। किन्तु जयसिंह की नीति का समर्थन अमीन खान, सैय्यद मुर्तजाखान और आकिल खान ने किया और यह कहा कि मराठों को अपने पक्ष में करने के लिए उदार नीति अपनाई जाय। मराठों के प्रति नीति के प्रश्न पर अमीरों मे मतभेद होने के कारण, औरगजेब यह तय न कर सका कि उसे उनके प्रति किस प्रकार की नीति अपनानी चाहिए। यही कारण है कि प्रथम अन्तराल (१६५६–१६८६) मे वह जयसिंह और उसके आलोचकों की बातों पर ध्यान न दे सका। उसने मराठों, बीजापुर व गोलकुण्डा के प्रति निरन्तर सैनिक कार्यवाहियाँ करना ही उचित समझा। इस प्रकार मुगल अमीरों मे दक्षिण के प्रश्न पर पारस्परिक मतभेद के कारण ही औरगजेब को दक्षिण मे अनेक युद्ध करने पडे जिसके कारण मुगल साम्राज्य के सभी साधन धीरे-धीरे समाप्त हो गए और साम्राज्य खोखला होने लगा। अन्त मे न मुगल साम्राज्य और न ही दक्षिण वैसे रहे जैसेकि वे पहले थे।

१६८६ से १७०७ ई० मे दक्षिण की समस्या पहले से भी अधिक गम्भीर हो गई। इन पच्चीस वर्षों मे औरगजेब ने अपना समय दक्षिणी अभियानों मे ही व्यतीत किया तथा अपने बाहुबल द्वारा दक्षिण के दो शक्तिशाली राजनैतिक केन्द्रों, बीजापुर, गोलकुण्डा को क्रमश १६६८ और १६८७ मे विजित कर लिया तथा १६८६ मे मराठा शासक शम्भाजी को पकड कर मौत के घाट उतार कर मराठों की कमर तोड दी किन्तु इसके बावजूद भी उसकी कठिनाइयों का किसी प्रकार से अन्त न हुआ। शीघ्र ही मराठों के विरोध ने उग्र रूप धारण किया और शाही सेनाओं को राजाराम का पीछा करते हुए कर्नाटक में प्रवेश करना पडा। तदुपरान्त मराठों ने मुगल अधिकृत समस्त दक्षिण पर छापा मारने शुरू किए। बाध्य होकर औरगजेब ने उनके विरुद्ध सैनिक कार्यवाहियाँ करनी पडी। मराठों के प्रति जो नीति उसने अपनाई उसने जिस प्रकार की राजनीतिक स्थिति उत्पन्न हुई उसकी प्रतिक्रिया मुगल उमराव-वर्ग पर भी हुई। दक्खिनियों के उमराव-वर्ग में प्रवेश करने के कारण खानाजादों का उमराव-वर्ग मे स्थान पहले जैसा न रहा, अतएव वे अपनी पहले जैसी स्थिति को बनाये रखने के लिए आतुर हो गए। उमराव-वर्ग के अन्य जातीय तत्त्वों, जोकि दक्षिण के युद्धों मे भाग ले रहे थे, मे से कुछ का यह विचार था कि मराठों के विरुद्ध युद्ध करना व्यर्थ है। शाही सैनिकों को उनके विरुद्ध किसी प्रकार की सफलता उपलब्ध नहीं हो सकती है। अत प्रशासन को उनके साथ समझौता कर लेना चाहिए और सम्राट को उत्तर वापस लौट जाना चाहिए। दलपतराव बुन्देला तथा वजीर असद खान का ऐसा ही दृष्टिकोण था। लेकिन औरगजेब मराठों को बिना कुचले हुए उत्तरी भारत वापस लौटने के लिए तैयार न था। मुगल उमराव-वर्ग मे कुछ अमीर उदाहरणार्थ, बहरमन्द खान, आदि ऐसे भी थे जोकि किसी भी कीमत पर दक्षिण से उत्तरी भारत वापस जाने के लिए तैयार थे। अधिकाश अमीर या तो गुप्तरूप से मराठों के हितैषी थे या बडे ही बेमन से मराठों के विरुद्ध सैनिक कार्यवाहियाँ कर रहे थे। औरगजेब को ये बातें मालूम थी। पर वह भी जानता था कि यदि उसने दक्षिण से पीठ फेरी तो

उनके अमीर उनकी अनुपस्थिति में न उनकी आज्ञाओं का पालन करेंगे और न ही मराठों को कुचलने के लिए किसी प्रकार की कार्यवाही ही करेंगे। उसका ऐसा सोचना भी ठीक ही था। इस बात की पुष्टि समकालीन अखबारात से दिये गये विवरण से होती है। भीमसेन और मनूची ने भी इस बात का उल्लेख किया है कि बहुत से अमीर मराठों का सामना करने के पक्ष में न थे और उन्होंने उनसे गुप्तरूप से समझौता कर लिया था। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह थी कि मुगल उमराव-वर्ग में दक्खिनी अमीर अधिकांशतः अवसरवादी थे। १६८९ में हैदराबादी अमीरों ने विद्रोह किया और १६९१ में जिन्जी अभियान के दौरान अनेक दक्खिनी अमीर शाही सेनानायक जुल्फिकार खान का साथ छोड़कर राजाराम से मिल गये। ऐसी स्थिति में दरबार में गुटबन्दी, पारस्परिक द्वेष एवं मनमुटाव का होना स्वाभाविक ही हो गया। परिणामस्वरूप एक ओर तो शाही सफलता के लिए यह बाधक सिद्ध हुई तो दूसरी ओर व्यक्तिगत अमीरों की पदोन्नति में रोडा बन गई। यही नहीं दरबार में दो गुट ईरानी, तूरानी बन गये। प्रथम गुट में असद खान और उनका पुत्र जुल्फिकार खान और द्वितीय में तूरानी अमीर गाजीउद्दीन खान फिरोज जंग और उसका पुत्र चिनकिलिच खान थे। दोनों ही गुटों में उमराव-वर्ग के अन्य जातीय तत्त्व भी शामिल थे। किन्तु जहाँ तक दक्षिण समस्या के प्रति इन दोनों गुटों के सदस्यों का प्रश्न है, ईरानी मराठों के साथ समझौते के पक्ष में थे और किसी प्रकार के समझौते के द्वारा ही वे, दक्षिण में मुगल प्रतिष्ठा को बनाये रखना चाहते थे। इनके विपरीत, तूरानी गुट के सदस्यों का मराठों के प्रति बहुत ही कठोर दृष्टिकोण था और वे औरंगज़ेब की दक्षिण नीति के समर्थक थे। इस प्रकार से उमराव-वर्ग के विभिन्न जातीय तत्त्वों की पारस्परिक मनमुटाव एवं द्वेष तथा व्यक्तिगत स्वार्थों का प्रभाव प्रशासन की दक्षिण-नीति पर पड़ा और उसकी असफलता के लिए उमराव-वर्ग ही उत्तरदायी था।

डा० अतहरअली के ग्रन्थ के पाँचवें अध्याय का शीर्षक है "उमराव और प्रशासन"। अन्य अध्यायों की भाँति यह अध्याय भी कई उपवर्गों में विभाजित है उदाहरणार्थ, अमीर व दरबार, दरबारी रीति-रिवाज उपाधियाँ एवं मान-सम्मान, भेंट देने की प्रणाली, मनसबदार और जनसेवा तथा प्रशासन में अमीरों का व्यवहार। निरंकुश शासन प्रणाली में, अफसरों का भाग्य शासक के हाथों में रहता था। अतएव सभी अमीरों का ध्यान दरबार की ही ओर निरन्तर लगा रहता था। चूँकि शासक इन्हीं अफसरों या अमीरों की सहायता से या उनके द्वारा प्रशासन को चलाता था अथवा वे ही प्रशासन को चलाते थे, अतः वह सदैव इस बात का ध्यान रखता था कि उसके आदेशों का वे पालन कर रहे हैं या नहीं या कहीं उनके द्वारा प्रदत्त किये गये अधिकारों का दुरुपयोग तो नहीं करते हैं। इस सन्दर्भ में मुगल दरबार और अमीरों के मध्य सम्बन्धों का परीक्षण करना अति-आवश्यक है और तभी हमें यह समझने में आसानी हो सकती है कि आखिरकार अमीर शासक के प्रति क्यों जागरूक रहते थे। वास्तव में मुगल उमराव-वर्ग दो वर्गों में विभाजित था—तैनात-ए-रकाब (जो अमीर विभिन्न दरबार में रहते थे) तथा तैनात-ए-सूबाजात, (जो अमीर विभिन्न प्रान्तों में नियुक्त थे)। दोनों वर्गों के अमीरों की स्थिति में निरन्तर परिवर्तन होता रहता था। अमीर की पदोन्नति से सम्बन्धित जब उसका स्थानान्तरण

होता था तो उसे दरबार मे उपस्थित होना पडता था उसके बाद ही उसे अपने नये पद का कार्यभार सम्भालने की अनुमति होती थी। ऐसी स्थिति मे जबकि किसी अमीर का स्थानान्तरण दण्ड के रूप मे होता था तो उसे दरबार मे आने की अनुमति नहीं दी जाती थी और उसे आदेश दिया जाता था कि वह सीधे ही अमुक स्थान पर पहुँच कर अपना कार्यभार सम्भाले। यदि शाही आदेशो के अभाव मे कोई अमीर दरबार मे आता था तो उसे दण्ड दिया जाता था। जिन अमीरो में प्रशासन एव युद्ध करने अथवा दोनों ही गुण हुआ करते थे उन्हे साम्राज्य के विभिन्न भागो मे तैनात किया जाता था। दरबार में वे ही अमीर रहते थे जिन्हे कि आवश्यकता पडने पर सैनिको के साथ महत्त्वपूर्ण अभियानो पर रवाना किया जा सकता था। दरबार मे अमीरो को दरबारी रीति-रिवाजो एव नियमो का पालन करना पडता था। उन्हे सुबह व शाम को सम्राट के सम्मुख उपस्थित होना पडता था। अस्वस्थ अमीरो या उन अमीरो को जोकि अति-आवश्यक कार्य मे व्यस्त हो, को इस नियम के पालन न करने की छूट दे दी जाती थी। दरबार मे प्रत्येक अमीर का उनके मनसब एव पद के अनुसार एक निश्चित स्थान हुआ करता था जहाँकि वह आमसभा एव पुनीत अवसरो पर खडा हुआ करता था। इस प्रकार विभिन्न श्रेणियो के मनसबदारो के लिए विभिन्न स्थान निर्धारित थे। दरबार मे कार्य होने के दौरान किसी भी अमीर को बैठने की अनुमति न थी। सम्राट के सिंहासन पर बैठने के उपरान्त कोई भी अमीर अपना स्थान, बिना अनुमति लिये हुए, छोडकर नही जा सकता था। लेकिन १६८३ मे औरगजेब ने हुक्म दिया कि २००० के नीचे के मनसबदार वापस लौटने के लिये फतेहा के पढे जाने की प्रतीक्षा न करें। कोई भी अमीर सम्राट के सामने रुक्का (petition) नही रख सकता था। बिना शासन की अनुमति के कोई भी मनसबदार दरबार मे शस्त्रो से लैस या सम्राट की व्यक्तिगत सभा मे उपस्थित नही हो सकता था। अमीरो के लिए गुलालबार की सीमाओ पर या सम्राट के निवास स्थान तक पालकी मे बैठ कर आने की मनाही थी। १६६३ मे औरगजेब ने हुक्म दिया कि कोई भी अमीर लाल रग के वस्त्र या उन रगो मे रगे हुए वस्त्र जोकि शरा के अनुसार वर्जित हो, पहन कर दरबार मे न आए। इसी प्रकार से अमीरो को इस बात की मनाही कर दी गई कि वे न तो आधी बाँहदार कोट पहन कर दरबार मे उपस्थित हो तथा सम्राट के सम्मुख दुशाला लपेट कर न हाजिर हो। यही नही दरबार मे एक अमीर द्वारा दूसरे को पान देना दरबार की रस्मो के विरुद्ध था।

जब तक अमीर दरबार मे रहता था तब तक उसे अपने सैनिको को लेकर सप्ताह मे एक दिन गश्त लगाना पडता था। बीमारी, शादी-विवाह मे व्यस्त तथा निकटतम सम्बन्धी की मृत्यु के कारण अमीर के अनुपस्थित होने अथवा अपने कर्त्तव्यो के पालन न करने के बारे मे भी निश्चित नियम थे। यही नहीं जब सम्राट हाथी पर सवार होकर कही जाता तो उसके अमीर घोडे पर सवार होकर जाया करते थे या जब सम्राट घोडे पर सवार होता तब उसके अमीर पैदल उसके पीछे-पीछे चला करते थे। कुछ ऐसी भी बातें थी जोकि सम्राट का विशिष्टाधिकार समझी जाती थी। उदाहरणार्थ, सम्राट को ही हाथी की लडाई करवाने व देखने का अधिकार था। उपरोक्त सभी दरबारी रीति-रिवाज एव नियम

तथा सम्राट के विशिष्ट अधिकार अमीरो को प्रभावित करते तथा सम्राट के असीमित अधिकारो का ज्ञान कराने के लिए थे और उन्हे यह बताने के लिए थे कि वे पूर्णरूपेण उसी पर आश्रित है।

अपने अमीरो की विशिष्ट सेवाओ को मान्यता प्रदान करने एव उन्हे सम्मानित कर उनकी प्रतिष्ठा बढाने के लिए सम्राट उन्हे समय समय पर विशिष्ट वस्तुएँ उपहार तथा उपाधियाँ भी प्रदान करता था। सामान्यत यह विशिष्ट वस्तुएँ, उपहार तथा उपाधियाँ नव-वर्ष पर, अभियान पर जाने से पूर्व या उसके पश्चात् प्रदान की जाती थी। इस सम्बन्ध मे भी तरह-तरह के नियम थे। कुछ ऐसी उपाधियाँ थी जोकि मुसलमानो, हिन्दुओ एव अमुक पदो पर कार्य करने वाले व्यक्ति के लिए ही हुआ करती थी। उपाधियाँ एव उपहार प्रदान करने से पूर्व कई बातो अर्थात् उपाधि एव उपहार से सम्मानित किये जाने वाले व्यक्ति की जाति, उसका मनसब, आचरण एव व्यवहार, दक्षता एव कार्य आदि सम्राट ध्यान मे रखता था। कभी-कभी तो सम्राट अपने अमीरो को उनकी कार्य-कुशलता से प्रसन्न होकर उनके पिता की उपाधियाँ देकर ही उन्हे सम्मानित करता था। एक ही उपाधि कभी भी दो व्यक्तियो को नही दी जाती थी। नई उपाधि देते समय, पहली उपाधि अमीर से या तो ले ली जाती थी या उस उपाधि मे आगे या पीछे नई जोड दी जाती थी। इन उपाधियो की महत्ता इतनी अधिक थी कि कभी-कभी तो अमीर उन्हे खरीदने के लिए भी तैयार हो जाते थे। अमुक उपाधि से सम्मानित होने वाले अमीर अपनी उपाधि से जाने जाते थे न कि अपने नाम से। सभी शाही दस्तावेजो मे वे उपाधियो द्वारा ही सम्बोधित किये जाते थे। उपाधियाँ वशानुगत नही हुआ करती थी। उपहारो मे सम्राट विभिन्न प्रकार की खिलअतें, पताकाएँ, नक्कारे आदि वस्तुएँ प्रदान किया करता था। १००० और उसके ऊपर के मनसबदारो को पताकाएँ, ६००० और उसके ऊपर के मनसबदारो को माही-मरातिब, २००० और उसके ऊपर के मनसबदारो को नक्कारे देकर सम्मानित किया जाता था। नक्कारा बजवाने का विशिष्ट अधिकार कुछ ही अमीरो को प्राप्त होता था। जब किसी अमीर को नक्कारा या पताका देकर सम्मानित किया जाता था तो उस अमीर के कन्धे पर ये वस्तुएँ रख दी जाती थी और अमीर को सम्राट के सम्मुख कोरनिश करनी पडती थी। कभी-कभी सम्राट अमीरो को जागीरें, नकद धन, जडाऊ तलवार, कटार, सरपेंच, सोने व चाँदी की जीनयुक्त घोडा, हाथी, हथिनी या बिना जीन के घोडे तथा मोती की माला, कीमती रत्न आदि देकर भी सम्मानित किया करता था। इसके अतिरिक्त सम्राट अपने अमीरो का मान विविध ढगो से रखता था। अमीर की मृत्यु पर उसके परिवार के सदस्यो के प्रति सहानुभूति प्रकट करने के लिए या तो वह किसी वरिष्ठ अमीरो को उसके घर पर भेजता था या दिवगत अमीर के परिवार के सदस्यो के लिये मातमी-खिलअतें। कुलीन अमीरो के परिवारो से वैवाहिक-सम्बन्ध स्थापित करके भी सम्राट अपने अमीरो की प्रतिष्ठा मे चार चाँद लगा दिया करता था।

सम्राट से अपने व्यक्तिगत सम्बन्ध दृढ़तर करने के लिए अमीर उसे समय-समय पर पेशकश मे बहुमूल्य रत्न, हीरे जवाहरात, आभूषण, नक़द धन भी दिया करते थे। पेशकश देने की प्रथा बहुत ही पुरानी है तथा एशियाई देशो मे भी प्रचलित थी। इस प्रथा के दो यह

पहलू थे। यदि एक ओर इस प्रथा को निभाकर अमीर सम्राट के प्रति अपनी निष्ठा और स्वामिभक्ति का परिचय देता था और उनको सर्वोपरि मानता था तो दूसरी ओर वह सम्राट को पेशकश देकर न केवल उच्च से उच्च पद वरन् विशिष्ट सम्मान भी प्राप्त कर लिया करता था। कालान्तर मे पेशकश देना घूस देने के बराबर हो गया। पेशकश के अतिरिक्त अमीर सम्राट को नज्र भी दिया करते थे। नज्र और निसार की प्रथाओ ने ही प्रशासन मे भ्रष्टाचार को बढ़ावा दिया, जिसका प्रभाव उमराव-वर्ग पर बिना पडे हुए नही रह सका।

जहाँ तक लोक-सेवा में उमराव-वर्ग के योगदान का प्रश्न है, वहाँ कई बातें ध्यान मे रखने योग्य है। पहली बात तो यह है कि आजकल की भाँति प्रशासन का स्वरूप एव प्रकृति उस काल मे न थी, अतएव प्रशासन का मुख्य उद्देश्य शान्ति एव सुरक्षा की स्थापना, न्याय व्यवस्था करना एव अकाल के समय किसानो को तकावी ऋण देना, तथा उनकी अन्य प्रकार से सहायता करना तथा विद्वानो एव धार्मिक व्यक्तियो को नकद अनुदान देना या लगान से मुक्त भूमि प्रदान करना था। इसके अतिरिक्त प्रशासन का मुख्य कार्य था सेना का सगठन तथा करो को वसूल करना। मनसबदारो को सभी प्रकार के काय करने पडते थे। न्याय विभाग को छोडकर अन्य सभी विभागो के कार्य का सचालन उन्ही के हाथो मे था। अपने सवार मनसब के अनुसार वे अपने अन्तगत सैनिक रखते थे, लेकिन साथ ही साथ वे राज्य के विभिन्न पदो उदाहरण :-फौजदार, दीवान, कोतवाल, मुशरिफ़, हाकिम, बख्शी, अहदी, सूबेदार, थानेदार आदि पर रह कर काय किया करते थे। २००० से लेकर ७००० के मनसबदारो को ही सूबेदार नियुक्त किया जाता था। २००० से लेकर ५००० तक की श्रेणी के मनसबदारो की नियुक्ति फौजदार के पद पर होती थी। कभी-कभी फौजदार का पद जागीरदार को भी प्रदान कर दिया जाता था। किसी भी मनसबदार की नियुक्ति, न्याय-विभाग को छोडकर, किसी भी पद, विभाग या प्रान्त या किसी स्थान पर हो सकती थी। चूँकि समस्त प्रशासन मनसबदारी प्रथा से सलग्न था अतएव अमीर प्रशासन मे ताने-बाने की तरह थे। प्रशासन की बागडोर इन अमीरो अथवा मनसबदारो के हाथो मे थी। एक पद से दूसरे पद पर या प्रात मे स्थानान्तरण होने के कारण, अमीर न केवल उमराव-वर्ग की आन्तरिक एकता को बनाये रख सके वरन् उमराव-वर्ग को अखिल भारतीय प्रकृति दे सकने मे समर्थ हो सके। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात थी जिसके कारण औरगजेब के राज्यकाल मे प्रादेशिक शक्तियाँ एव सम्प्रदायिकता की भावनाएँ दबी रही और साम्राज्य की स्थिति पूर्ववत् बनी रही। डा अतहरअली ने आगे चलकर अपनी पुस्तक मे प्रशासन मे अमीरो के आचरण का परीक्षण किया है। इसमे तनिक भी सदेह नही कि सभी अमीर सम्राट के हाथो मे थे चूँकि अमीरो की पदोन्नति, मान-सम्मान एव सभी कुछ उसी के हाथो मे था। लेकिन फिर भी अमीर अपनी मनमानी करने मे या राजकीय आदेशो का उल्लघन करने मे नही चूकते थे। कभी वे सम्राट की इच्छानुसार कार्य न करते, तो कभी अपने सवार मनसब के अनुसार सैनिक न रखते। इनमे से कुछ अमीरो को सम्राट दण्ड तो देता, लेकिन शेष उसके आक्रोश से किसी न किसी प्रकार से बच निकलते। व्यभिचारी, अत्याचारी,

हत्यारे एव कुशासक अमीरो को प्राय सम्राट दण्ड देने से नही चूकता था, लेकिन ऐसे अमीरो को जोकि गैर कानूनी कर, निर्धारित लगान से अधिक लगान वसूल कर किसानो पर अत्याचार करते थे, उनके प्रति सम्राट बहुत ही नम्रतापूर्ण व्यवहार करता था। वह केवल उन अमीरो के मनसब को कम कर ही सन्तुष्ट रह जाता था। जब तक अमीर उसके सैनिक हितो पर आघात नही पहुँचाते थे, तब तक वह अमीरो द्वारा आदेशो के उल्लघन की ओर ध्यान नही देता था। ऐसी स्थिति मे जबकि अमीरो पर शाही नियन्त्रण ही ढीला-ढाला हो तो सम्राट उनकी अनेक गल्तियो को यो ही टाल जाता था। कालान्तर मे जब अमीरो ने औरगजेब के इस व्यवहार को देखा तो और भी उद्दण्ड हो गये। वे स्वय घूस लेने लगे और सम्राट को नम्र देखकर प्रसन्न रहने लगे। प्रत्येक अमीर छोटे से छोटे कार्य के लिए घूस लेने लगा। इस प्रकार प्रत्येक अमीर मालामाल हो गया। सम्राट को यह बात मालूम थी कि उसका छोटे से छोटा अफसर घूस लेने लगा है, लेकिन फिर भी उसने उन्हें घूस लेने से रोकने के लिए कुछ भी न किया। प्रशासक वर्ग की उपरोक्त मीमासा के आधार पर डा० अतहरअली ने अध्याय के अन्त में यह बताया है कि अमीरो मे प्रचलित घूस लेने की प्रथा तथा भ्रष्टाचार का जो विवरण समकालीन ऐतिहासिक ग्रन्थो मे मिलता है, वह अतिशयोक्तिपूर्ण नही है। हमे यह स्वीकार करना पडेगा कि अपने व्यवहार मे मुगल प्रशासक वर्ग का दृष्टिकोण बहुत ही सकुचित था। अपने निजी हितो की सुरक्षा करते समय उन्हें प्रशासन के भविष्य का ध्यान न रहा और उन्होंने कभी इस बात पर भी ध्यान न दिया कि उनके आचरण का प्रशासन पर भविष्य मे क्या प्रभाव पडेगा। उनके लोलुप एव भ्रष्टाचारी स्वभाव के कारण कोई भी नीति ठीक तरह से वे कार्यान्वित न कर सके। परिणामस्वरूप पहले तो सिविल प्रशासन मे गड-बडियाँ प्रारम्भ हुई और आगे चलकर मुगल साम्राज्य की नैतिक प्रतिष्ठा को ठेस पहुँची और कूटनीति के दायरे मे भी सम्राट का मुँह नीचा हुआ। औरगजेब के शासनकाल के अत तक स्वार्थी, भ्रष्टाचारी एव लोलुप तथा अदूरदर्शी एव स्वाभिमानी उमराव वर्ग का विकास हो चुका था।

छठे अध्याय—"अमीर व आर्थिक जीवन" मे डा० अतहरअली ने साम्राज्य की आर्थिक व्यवस्था मे अमीरो के सम्बन्ध पर प्रकाश डाला है। यूरोपीय देशो मे जिस प्रकार उमराव-वर्ग मध्यम-वर्ग या भूमि से सलग्न था, उसी प्रकार मुगल साम्राज्य मे उमराव वर्ग न तो भूमि से और न ही मध्यम-वर्ग से सलग्न था। और न ही वे व्यापारी-समाज का प्रतिनिधित्व करते थे। यह पहले बताया जा चुका है कि उन्हें वेतन मिलता था, उनकी जागीरें बदलती-बदलती रहती थी, और वे वशानुगत भूमि के मालिक भी न थे। इस प्रकार देश की आर्थिक व्यवस्था पर बहुत अधिक प्रभाव डाल सकना उनकी सामर्थ्य के बाहर था। मुगल उमराव वर्ग मे कुछ ही अमीर ऐसे थे जिन्होने कि और जन के राज्यकाल मे व्यापारी के रूप मे अपना जीवन प्रारम्भ किया हो। लेकिन फिर भी ऐसे अनेक अमीर थे—मीर जुमला, नुरुअल्लाह खान, शायस्ता खान आदि जोकि व्यापार करते थे और जिनकी रुचि व्यापार मे थी तथा जिन्होने व्यापार से अत्यधिक धन उपार्जित किया। मीर जुमला अग्रेजो के साथ व्यापार करता था तथा अग्रेजो का धन देता था।

उसके जहाज माल लेकर अराकान और फारस आदि देशो को जाया करते थे। शायस्ता खान ने बंगाल के आन्तरिक व्यापार को अपनी मुट्ठी मे करने की चेष्टा की। वह बाह्य देशो से नमक व सुपाडी तथा अन्य वस्तुएँ मँगा कर बंगाल मे ऊँचे दामो पर बेचा करता था और अत्यधिक नाम कमाया करता था। इसके अतिरिक्त अधिक से अधिक धन कमाने के लिए कुछ अमीरो ने माल बनाने के लिए अपने निजी कारखाने भी स्थापित किये। बख्तावर खान तथा शुजाअत खान ने अनेक शहरो मे विभिन्न वस्तुएँ बनाने के लिए कारखाने स्थापित किये। मीरात-ए-अहमदी मे दिये गये औरगजेब के फरमान से यह मालूम होता है कि किस प्रकार अमीर व्यापार और विनिमय से गैर-कानूनी कर व चूँगियाँ वसूल कर लिया करते थे। इसके अतिरिक्त अमीरो की आय का एक और मुख्य साधन था, जागीर से प्राप्त लगान। लगान से प्राप्त धन या तो वे व्यापार मे या कारखाने मे लगा देते थे या वे अपनी ही आवश्यकताओ पर व्यय कर लेते थे। यहाँ सबसे महत्त्वपूर्ण बात ध्यान मे रखने की यह है कि हीरे जवाहरात, अद्‌भुत वस्तुएँ तथा विदेशी सामान और बढिया से बढिया कीमती वस्त्र और ठाठ-बाट से रहने के कारण, इस काल में उमराव-वर्ग व्यापार-विनिमय को बढावा न दे सके और न ही उत्पादन की ओर ध्यान दे सके। उत्पादन के क्षेत्र मे उत्पादन की नई विधियो का न तो आविष्कार हुआ और न ही परम्परागत विधियो मे परिवर्तन। उद्योग के सम्बन्ध मे उनके विचार केवल निजी कारखानो तक ही सीमित थे, जिनमे कि कम वेतन पर काम करने वाले कारीगर उनकी आवश्यकताओ एव विलासमय जीवन की वस्तुएँ तैयार किया करते थे। सक्षेप मे व्यापार एव उद्योग के क्षेत्र मे मुग़ल उमराव-वर्ग की कोई विशेष रुचि न थी।

पहले यह बताया जा चुका है कि मुगल साम्राज्य का प्रशासक-वर्ग अर्थात् उमराव-वर्ग के प्रत्येक सदस्य को तनख्वाह या वेतन मिलता था। इस वेतन के लिए उसे राज्य के ही ऊपर निर्भर रहना पडता था जोकि या तो सम्पूर्ण वेतन की राशि नकद मे या नकद और जागीर अथवा केवल जागीर के रूप मे प्रदान कर दिया करता था। इस प्रकार राज्य से प्राप्त वेतन अथवा जागीर मे उपलब्ध आय के द्वारा ही अमुक अमीर अपने मनसब के अनुसार सैनिको को रखता था तथा अपना निजी खर्च चलाता था। मुगल प्रशासन उसके द्वारा किये गये व्यय की कभी जाँच-पडताल भी नही करता था। प्रशासन को केवल उसकी सेवाओ और उसके सैनिको से ही मतलब था। इस प्रकार सैनिको एव परिवार की व्यवस्था के लिए प्रत्येक अमीर की अपनी अर्द्ध-स्वतन्त्र सरकार या अर्द्ध-स्वतन्त्र प्रशासनिक व्यवस्था हुआ करती थी, जिसमे उसकी सैनिक टुकडी, अफसर, घरेलू नौकर-चाकर, उसका अन्त पुर इत्यादि सभी शामिल होते थे। इस प्रकार की प्रशासनिक व्यवस्थाएँ इस मामले मे स्वतन्त्र होती थी कि उनमे प्रशासन किंचितमात्र हस्तक्षेप नही करता था। राज्य के लिए सैनिक तथा अन्य प्रकार की सेवाओ को पूर्ण करने के उपरान्त, जिस प्रकार अमीर चाहते थे वे अपनी आमदनी को खर्च करते थे। उनकी व्यक्तिगत अर्द्ध-स्वतन्त्र प्रशासनिक व्यवस्था मे सबसे महत्त्वपूर्ण विभाग, वित्तीय विभाग हुआ करता था। इस विभाग का कार्य अमीर के प्रतिनिधियो द्वारा जागीर मे से लगान एव अन्य करो को वसूल करना, व्यापार मे लाभ उपार्जित करना, तथा घूस और

पेशकश लेकर अमीर की आय को बढाना था। प्रत्येक अमीर का अपना दीवान हुआ करता था। तब उनके अन्तर्गत अनेक व्यक्ति हुआ करते थे। वही अमीर के प्रतिष्ठान की देखभाल किया करता था। दीवान के अतिरिक्त अन्य महत्त्वपूर्ण अफसर भी अमीर के प्रतिष्ठान की व्यवस्था करने के लिए हुआ करते थे, उदाहरणार्थ खाजीनादार (नकद धन रखने का अधिकारी), मुशरिफ-ए-खजाना (आय एव व्यय का हिसाब किताब रखने वाला अधिकारी) मुशरिफ ए-सरकार (अमीर के प्रतिष्ठान के लिए दिन-प्रतिदिन की आवश्यकता मे आने वाली वस्तुओ को खरीदने वाला व्यक्ति), मुशरिफ खाद्यान्न खरीदने वाला अधिकारी, खान-ए-सामा (अमीर की रसोई का अध्यक्ष), तथा बख्शी-ए-सरकार (अमीर की सैनिक टुकडी का प्रवन्ध–कर्त्ता) आदि आदि। इन विभिन्न अधिकारियो को विभिन्न मदो पर धन खर्च करने के लिए पहले खजाची से अनुमति लेनी पडती थी और खर्च का पूरा हिसाब देना पडता था।

प्रत्येक अमीर को अपने मनसव के अनुसार सेना रखनी पडती थी। यह सेना उसके प्रतिष्ठान का सबसे महत्त्वपूर्ण अग हुआ करती थी। शाही नियमो के अनुसार अमीर को निर्धारित सख्या मे घुडसवार तथा घोडे रखने पडते थे। कभी-कभी शाही आदेशानुसार वे थोडे समय के लिए किराये पर सैनिक (सह बन्दी) भी रखते थे, जोकि उनकी सहायता लगान वसूल करने या पुलिस के कार्य करने के लिए होते थे। यह अमीर जैसाकि भीमसेन तथा मनूची ने कहा है, और विशेषत मुस्लिम अमीर कभी भी राज्य द्वारा निर्धारित सख्या मे सैनिक नही रखते थे। वे सैनिको को जो वेतन देते थे, उसमे प्रशासन तनिक भी हस्तक्षेप नही करता था। कुछ अमीर अपने सैनिको को कम और कुछ को अधिक वेतन दिया करते थे। कभी-कभी तो सैनिक को वेतन की वजाय अमीर अपनी जागीर मे से उसे कुछ भूमि दे दिया करता था। औरगजेब के शासनकाल मे सैनिको की यह आम शिकायत थी कि उन्हें पूरा वेतन नही मिलता। कभी-कभी तो छ-छ महीने तक अमीर सैनिको को वेतन नही देते थे। लेकिन ऐसा केवल कुछ ही अमीर करते थे। जहाँ तक अमीरो का सैनिको के प्रति व्यवहार का प्रश्न था, कुछ अमीर तो उनके प्रति बहुत ही उदार थे और कुछ कठोर। तहव्वुरखान अपने सैनिको के साथ बहुत ही अच्छा व्यवहार करता था।

औरगजेब के शासनकाल मे बहुत से अमीर ऐसे थे जिन्होंने जनता की भलाई के लिए अनेक कार्य किये। औरगजेब के राज्यकाल के प्रारम्भिक वर्षों मे बख्तावर खान ने अधिक इमारतें सार्वजनिक उपयोग के लिए बनवाईं। इन इमारतो मे बख्तावर नगर की सराय, मस्जिद के अतिरिक्त एक हम्माम तथा पक्का कुआँ भी शामिल है। सराय के निकट उसने एक उद्यान लगवाया और उसके पास ही सीढियों-युक्त तालाब। इसी प्रकार से उसने बख्तावर नगर और फरीदाबाद के बीच बरसाती नदी पर एक पुल बनवाया। बख्तावर-पुरा मे कोटा के निकट उसने एक मस्जिद, तालाब और गरीबो के रहने के लिए मकान बनवाया। इन इमारतो को बनाये रखने के लिए उसने अनेक कोठरियाँ और बराण्डे बनवाये और उन्हे किराये पर उठा दिया। उसने शाहजहाँनाबाद मे शाहनहर के ऊपर पुल और उसके निकट मस्जिद बनवाई। आगराबाद और लाहौर मे उसने सार्वजनिक उद्यान लगवाये तथा शेख नासिरुद्दीन चिराग के मकबरे के निकट एक मस्जिद बनवाई।

बख्तावर खान की ही भाँति शायस्ताखान ने भी देश के विभिन्न भागो मे सरायें तथा पुल और उद्यान लगवाये। मीर जुमला ने हैदराबाद मे एक बडा तालाब बनवाया और उद्यान लगवाया। मीर खलील ने नारनौल मे खलील सागर नामक तालाब बनवाया। इरिजखान ने इलिचपुर के निकट एक सराय, गाजीउद्दीन खान ने दिल्ली मे एक खनकाह तथा अन्य अमीरो ने अनेक मस्जिदे बनवाई। अमीरो द्वारा किये गये लोकोपयोगी कार्यो मे से उनका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य, दुर्भिक्ष के समय, अकालग्रस्त लोगो को मुफ्त भोजन देने के लिए, लगरखाने स्थापित करना था। १६६० मे जब उत्तरी भारत मे अकाल पडा तो औरगजेब ने १००० से ऊपर की श्रेणी के मनसबदारो को आदेश दिया कि वे लगरखाने खोलकर लोगो को मुफ्त भोजन देने की व्यवस्था करे। यही नही कुछ ऐसे भी अमीर थे जिन्होने कि शिक्षा प्रदत्त करने के लिये मदरसे खुलवाये तथा विद्वानो, साहित्यकारो, कवियो, कलाकारो एव वैद्यो को प्रश्रय देकर ख्याति प्राप्त की। लेकिन इस सम्बन्ध मे जो एक बात आमतौर पर खटकती है वह यह थी कि इस काल मे किसी भी अमीर ने विज्ञान तथा तकनीकी शिक्षा के प्रचार के लिए कुछ भी नहीं किया।

प्रत्येक अमीर का एक असीमित परिवार और बडा हरम हुआ करता था। परिवार मे हरम का विशेष महत्त्व था, चूँकि अमीर अपनी आय का अधिकाश भाग हरम मे अपनी औरतो पर ही खर्च करना अपना पुनीत कर्तव्य समझता था। इसलिए अमीर के कई पत्नियाँ हुआ करती थी, जोकि कुलीन परिवारो एव घरानो से सम्बन्धित होती थी। वे सब एक साथ एक ही हवेली मे रहती थी। किन्तु प्रत्येक पत्नी का हवेली मे एक पृथक् कक्ष हुआ करता था और उसकी सेवा के लिए अनेक नौकर-चाकर, सेवक और सेविकाएँ। हवेली की चारदीवारी के अन्दर ही उनके खाने-पीने, रहने तथा विलासमय एव आनन्दमय जीवन व्यतीत करने की व्यवस्था होती थी। शान व शौकत के लिए सभी उपकरण उन्हे उपलब्ध थे।

शान-शौकत मे अमीर भी किसी से कम न थे। उनकी रुचि अपने हरम मे तो होती ही थी, लेकिन साथ ही साथ सुन्दर उद्यान लगवाना और उसके बीचोबीच तालाब व झरनो की व्यवस्था करने मे भी रुचि रखते थे। कुछ अमीरो की रुचि पालतू जानवरो को पालने मे थी और वे इन जानवरो पर हजारो रुपये प्रतिवर्ष खर्च कर दिया करते थे। जब कभी अमीर घर के बाहर निकलते थे तो बडे ठाठ-बाट से। इसी से उनके रहन-सहन के स्तर का अन्दाजा लगाया जा सकता है।

औरगजेब के राज्यकाल मे अधिकाशत अमीरो की यह शान-शौकत केवल दिखावटी ही थी। कुछ अमीर धनी एव स्वावलम्बी थे। शेष सभी अमीर उन अमीरो की श्रेणी मे आते थे, जिनके पास न धन था और न आय के उपयुक्त साधन। इसका एकमात्र कारण जागीरदारी-प्रथा मे सकट उत्पन्न होना, अमीरो की आय कम होना, उनके व्यक्तिगत प्रतिष्ठानो के खर्च मे वृद्धि तथा सम्राट को समय-समय पर अपनी प्रतिष्ठा के अनुसार बहुमूल्य पेशकश प्रदान करना। जागीरो के निरन्तर स्थानान्तरण के कारण अमीर अपनी जागीर मे कृषि को बढावा न दे सके। लगान के अतिरिक्त अन्य गैर-कानूनी करो की माँग के दबाव के कारण किसान भूमि छोडकर अन्य व्यवसायो मे लग गये, जिसके कारण

अमीरो की आमदनी कम हो गई। इसके अतिरिक्त राजकीय अधिकारियो ने अमीरो पर दबाव डालना शुरू किया कि वे जुर्माने तथा सरकार से लिए गये ऋण आदि का भुगतान करें। दक्षिण मे युद्धो की सख्या मे वृद्धि होने के कारण भी अमीरो का सैनिक उत्तर-दायित्व बढा और दक्षिण की जागीरे निरन्तर युद्ध के कारण बर्बाद हो गई। आर्थिक कठिनाइयो से तग आकर बहुत से दक्खिनी अमीर मराठो से मिल गये, अन्य ने अपने कर्त्तव्यो के पालन से मुँह मोड लिया। फलस्वरूप मुगल-सेना शक्तिहीन हो गई और साम्राज्य की वे सभी दुर्बलताएँ जोकि वर्षो से छुपी हुई थी, सब उमड आई। ज्यो-ज्यो अमीरो की आय का स्रोत सूखता गया त्यो-त्यो मुगल-साम्राज्य पतन की ओर उन्मुख होने लगा। अन्त मे न मुगल-साम्राज्य रहा और न मुगल उमराव-वर्ग।

अपने ग्रन्थ के अन्तिम कुछ पृष्ठो मे उपसहार के रूप मे डा० अतहरअली ने मुगल उमराव-वर्ग के सम्बन्ध मे अपने सारगर्भित विचारो का समावेश किया है। उनके अनुसार औरंगजेब का राज्यकाल सन्धिकाल था, चूँकि एक ओर तो शाहजहाँ के अन्तर्गत मुगल-साम्राज्य उत्कर्ष की चरम-सीमा पर पहुँच चुका था तो दूसरी ओर १८वी शताब्दी मे वही मुगल-साम्राज्य पतन की ओर शीघ्रतापूर्वक उन्मुख हुआ। औरंगजेब की आंखो के सामने ही मुगल-साम्राज्य के पतन के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे थे। उसके शासनकाल मे दक्षिण मे मुगलो की सैन्य-असफलताएँ, मराठो का बढता हुआ प्रभाव, साम्राज्य के विभिन्न भागो मे विभिन्न जातीय-तत्त्वो की विद्रोही कार्यवाहियाँ, इस बात का सबूत प्रस्तुत कर रही थी कि मुगल-साम्राज्य का भविष्य अन्धकारमय है। वास्तव मे औरंगजेब के अन्तर्गत मुगल उमराव-वर्ग के इतिहास का अध्ययन दो भागो मे होना चाहिए—१६५६ से १६७९ और १६७९ से औरंगजेब की मृत्यु के समय तक। १६७९ ई० मे राजपूतो के विरुद्ध युद्ध तथा दक्षिण मे युद्ध प्रारम्भ करने से पूर्व, न तो मनसबदारों की सख्या मे कोई विशेष वृद्धि हुई और न ही उमराव-वर्ग की जातीय एव धार्मिक सरचना मे ही किसी प्रकार का परिवर्तन हुआ। इस काल मे तूरानी व हिन्दुस्तानी अमीरो की अपेक्षा ईरानी अमीरो का ही बोल-बाला रहा। राजपूतो के मनसब मे भी वृद्धि हुई। लेकिन १६७९ के बाद राजपूतो की सख्या कम होने लगी और अफगानो की सख्या उमराव-वर्ग मे बढने लगी। खानाजादो की सख्या मे वृद्धि होने के कारण मुगल उमराव-वर्ग शक्तिशाली बन गया और उसमे स्थिरता आ गई। मनसबदारी प्रथा के नियमो का भी इस काल मे पालन होता रहा। जागीर-दारी प्रथा भी सकट से मुक्त रही। यही नही उमराव-वर्ग के विभिन्न जातीय तत्त्वो के प्रति औरंगजेब की वही नीति बनी रही जोकि उसके पूर्वजो की थी। दक्षिण की ओर प्रस्थान करने से पूर्व राजपूतो के प्रति भी उसकी नीति उसके पूर्वजो की नीति के ही समान थी। अनेक राजपूत मनसबदार उसी के पक्ष मे थे। न ही दरबार मे उसने गुटबन्दी होने दी। अत दक्षिण की ओर प्रस्थान करने से पूर्व साम्राज्य मे उमराव-वर्ग के कारण किसी प्रकार का सकट न था और न ही समस्याएँ।

दक्षिण की ओर प्रस्थान करने के उपरान्त ही, धीरे-धीरे नई कठिनाइयाँ उत्पन्न होने लगी और सकटकालीन स्थिति का सामना औरंगजेब को करना पडा। दीर्घकालीन राजपूत-युद्ध और दक्षिण मे मराठो, बीजापुर व गोलकुण्डा के विरुद्ध युद्धो ने उमराव-वर्ग

पर आर्थिक एव प्रशासनिक कठिनाइयाँ लाद दी। मराठो व दक्खिनियो को घूस व जागीर देकर अपने पक्ष मे करने की नीति के कारण तथा उमराव-वर्ग मे उन्हे यथा-स्थान देने के कारण मुगल उमराव-वर्ग की कठिनाइयाँ बढ गईं। उनकी जागीरे या तो कम कर दी गईं। या छीन ली गईं या उनका स्थानान्तरण होने लगा। व्यक्तिगत तथा अपने सैनिको का खर्च उठाने के लिए दिन-प्रतिदिन धन की बढती हुई आवश्यकता ने उन्हे इस बात पर बाध्य कर दिया कि वे किसानो से लगान के अतिरिक्त गैर-कानूनी कर तथा व्यापारियो से धन और जनता से घूस ले। घूस लेना एक आम बात हो गई। प्रशासन में भ्रष्टाचार फैलने लगा और साम्राज्य खोखला होने लगा युद्धो के कारण अशान्ति फैली और उन स्थानो मे जहाँकि अमीरो की जागीरे थी, अशाति के कारण उनके लिए कर वसूल करना मुश्किल हो गया। धन के अभाव मे मनसबदारो ने सैनिक टुकडियाँ रखनी बन्द कर दी। साम्राज्य की सैनिक-दुर्बलता का लाभ उठाकर लोगो ने विद्रोह करना शुरू किया और प्रशासन के लिए इन विद्रोहियो को दबानो कठिन हो गया। दूसरी ओर जागीरो के लिए अमीरो मे जिस प्रकार से स्पर्धा प्रारम्भ हुई उसके कारण साम्राज्य के स्थायित्व मे अमीरो का विश्वास डगमगा उठा और उनमे गुटबन्दी प्रारम्भ हुई। जुल्फिकार खान और गाजीउद्दीन खान ने अपने-अपने गुट बना लिये। उमराव-वर्ग की एकता खतरे मे पड गई। कुछ अमीर तो अवसर का लाभ उठाकर अपने लिए स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने का स्वप्न देखने लगे। लेकिन यह बात औरगजेब की मृत्यु के बाद हुई। सत्य तो यह है कि बदलती हुई परिस्थितियो मे मुगल उमराव-वर्ग अपनी प्रकृति को बदल न सका। औरगजेब को परिवर्तन की आवश्यकता तो महसूस हुई, लेकिन अपने साम्राज्य को धार्मिक आधार प्रदान करने मे उसे तनिक भी सफलता प्राप्त न हुई। यह बात स्पष्ट हो गई कि धार्मिक पुनरुत्थान द्वारा राजनीतिक दृष्टि-कोण मे न तो परिवर्तन हो सकता है और न ही प्रशासन के ढाँचे को पूरी तरह से सँवारा जा सकता है।

औरगजेब के अन्तर्गत मुगल उमराव-वर्ग की जो रूपरेखा डा० अतहरअली ने अपने ग्रन्थ मे प्रस्तुत की है वह बहुत ही लाभदायक है। इस रूपरेखा की श्रेष्ठता के सम्बन्ध मे दो मत कदापि नही हो सकते हैं। किन्तु डा० अतहरअली ने यदा-कदा जहाँ शाहजहाँ और औरगजेब के कट्टर धार्मिक दृष्टिकोण की बात कही है, वह सकारण रूप से गले के नीचे नही उतरती है। यदि उनका कहने का तात्पर्य यह है कि व्यक्तिगत-जीवन मे धार्मिक होते हुए भी उन्होने राजपूतो को अधिकाधिक मनसब प्रदान किये, तो भी यहाँ यह कह देना उपयुक्त होगा कि दोनो ही शासको को राजकीय आवश्यकताओ के कारण हिन्दुओ को प्रश्रय प्रदान करना पडा। डा० अतहरअली ने मुगल उमराव-वर्ग का दक्षिण-नीति के प्रति दृष्टिकोण का तो उल्लेख किया किन्तु अन्य नीतियो, उदाहरणार्थ–राजपूत, उत्तरी-पश्चिमी सीमावर्ती नीति एव धार्मिक नीति के प्रति उनका क्या दृष्टिकोण था, उसका उल्लेख उन्होने कही नहीं किया। क्या उपरोक्त नीतियो के विषय मे उमराव-वर्ग के विभिन्न जातीय तत्त्वो के कोई विचार न थे? या यह मान लिया जाय कि इन नीतियो के सम्बन्ध मे औरगजेब और उमराव-वर्ग के विभिन्न जातीय तत्त्वो मे किसी प्रकार का

मतभेद न था। इस ग्रन्थ मे डा० अतहरअली ने उमराव-वर्ग के विभिन्न जातीय तत्त्वो के सास्कृतिक योगदान पर भी बहुत ही कम प्रकाश डाला है। सम्भवत उन्होने अपने विषय को परिधि मे ही रखना उचित समझा। कुछ भी हो, औरगजेब-कालीन उमराव-वर्ग जैसे गम्भीर विषय पर प्रस्तुत ग्रन्थ बहुत ही महत्त्वपूर्ण एव उपयोगी है।

मध्यकालीन एवं आधुनिक इतिहास विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद।

पटेल के पत्र

एम एम जैन

आधुनिक भारत के निर्माताओ मे सरदार वल्लभभाई पटेल का योगदान सामान्यत भारतीय राज्यो के एकीकरण तक ही सीमित मान लिया जाता है। उनके निजी पत्रो के प्रकाशित कर दिए जाने के पश्चात् यह स्पष्ट होता है कि १९४५–५० के मध्य सरदार पटेल ने विभिन्न समस्याओ के हल करने मे कितना योगदान दिया था। यह पत्र-व्यवहार दस जिल्दो मे प्रकाशित हो चुका है।

प्रथम जिल्द मे काश्मीर समस्या से सम्बन्धित पत्र प्रकाशित किए गए है। जून १९४६ मे काश्मीर की स्थिति यह थी कि वहाँ स्थानीय नेशनल काफ्रेन्स के नेता शेख मोहम्मद अब्दुल्ला को बन्दी बनाया हुआ था। राज्य में जन-आन्दोलन का दमन किया जा रहा था और प० नेहरू इस आन्दोलन का समर्थन करने के लिए कश्मीर जाना चाहते थे। कश्मीर महाराजा हरिसिंह और उसके प्रधानमंत्री रामचन्द्र काक इस जन-आन्दोलन का दमन करना चाहते थे। जवाहरलाल नेहरू अखिल भारतीय स्टेट्स पीपुल्स काफ्रेन्स के अध्यक्ष थे। भारतीय राज्यो के भारतीय सघ मे विलय के प्रश्न से सरदार पटेल का सीधा सम्पर्क था इसलिए कश्मीर के प्रश्न से उनका सम्बन्ध था। यह सम्बन्ध जून १९४६ से अक्तूबर १९४७ तक मुख्य था और अक्तूबर के पश्चात् गौण हो गया क्योकि कश्मीर की समस्या पाकिस्तान द्वारा समर्थन प्राप्त कबाइलियो के आक्रमण से विदेश विभाग मे चली गई और प० नेहरू के नियंत्रण मे आ गई। लेकिन पटेल, नेहरू, आयगर का इस समस्या के हल करने मे काफी योगदान रहा।

१९४६ मे कश्मीर मे प्रजातन्त्रीय सस्था के नाम पर एक प्रजासभा थी। उसकी सदस्य सख्या ७५ थी जिसमे ४० निर्वाचित होते थे। मई १९४६ मे कश्मीर की नेशनल काफ्रेन्स ने वहाँ के राजा के विरुद्ध जन-आन्दोलन को तेज कर दिया और कशमीर छोडो का नारा लगाया। अब्दुल्ला और उसके सहयोगियो को जेल मे बद कर दिया गया। प० नेहरू इस आन्दोलन का समर्थन करने के लिए कश्मीर जाने के लिए इच्छुक थे। कश्मीर मे हिन्दू सभा के सचिव ने नेहरू द्वारा कथित अत्याचारो की निन्दा को तथ्यो के विपरीत बताया। प० नेहरू ने तथ्यो की ठीक जानकारी उपलब्ध हो जाने पर अपने कुछ कटु वाक्यो को वापस ले लिया। कश्मीर की समस्या को जटिल बना देने वाला एक अन्य तत्त्व यह भी था कि वहाँ का शासक हिन्दू और अधिकाश जनसख्या मुसलमान थी। इसलिए सरदार पटेल ने बहुत पहले (पत्र न० ४) मे ही यह कहा था कि राजनीतिक

१ पटेल के पत्र, (१९४५-१९५०) जि० १, २, सम्पादक दुर्गादास, अहमदावाद, १९७१-७२ मे प्रकाशित।

आन्दोलनों को यथा सम्भव साम्प्रदायिक प्रश्न से अलग ही रखा जाए। नेहरू द्वारा कश्मीर सरकार की कटु आलोचना को पटेल ने यह कहकर उचित बताया था कि नेहरू एक कश्मीरी पण्डित होने के नाते अन्य भारतीय नेताओं की अपेक्षा कश्मीर के लिए अधिक चिन्तित थे। शेख अब्दुल्ला के कश्मीर स्वतन्त्रता से सम्बन्धित भाषणों के संदर्भ में पटेल ने लिखा था कि "शेख अब्दुल्ला को बहुत लोकप्रिय माना जाता है और प० नेहरू के साथ संगति ही उनके (अब्दुल्ला के) किसी पृथकतावादी आन्दोलन के विरुद्ध होने की पर्याप्त गारण्टी मान ली गई है। अपितु स्पष्ट है कि उसके वर्तमान रवैया से दोहरा मतलब निकल सकता है और सम्भवत प० नेहरू और स्टेट्स पीपुल्स कान्फ्रेंस के विचारों में वैमेन्य है।" (पत्र न० ५)

कांग्रेस कार्यकारिणी ने सरदार पटेल को कश्मीर के सम्बन्ध में कार्य करने के लिए कहा। १५ जुलाई, १९४६ को कश्मीर के महाराजा हरिसिंह द्वारा प्रकाशित घोषणा में ऐसा प्रतीत ही नहीं होता कि कश्मीर के प्रशासन में कोई आन्तरिक समस्या हो। उसमें बाहर से कश्मीर की घटनाओं के प्रभावित करने के प्रयत्नों की निन्दा की गई थी। (न० १६) पटेल ने अगस्त के अन्त में पुन रामचन्द्र काक, कश्मीर प्रधान मंत्री, को परामर्श दिया कि जिस प्रकार भारत में भी स्वतन्त्रता सेनानियों को प्रशासन से सम्बन्धित किया जा रहा था उसी प्रकार यदि कश्मीर में भी ऐसा ही किया जाए तो अधिक अच्छा होगा। (न० १८) लेकिन कश्मीर प्रशासन अप्रभावित रहा। इस नीति ने पटेल को निराश किया लेकिन उन्होंने कश्मीर के महाराजा की इस कल्पना का विरोध किया जिसके अनुसार भारत को बाह्य सत्ता अथवा भारतवासियों को विदेशी कहा गया था।

जनवरी १९४७ में कश्मीर में एक नई प्रजासभा के लिए निर्वाचन घोषित किए गए लेकिन इनके पूर्व नेशनल कान्फ्रेंस के कार्यकर्ताओं को बन्दी बना लिया गया। अप्रैल, १९४७ में पटेल ने पुन पूछा कि क्या शेख अब्दुल्ला के प्रति व्यवहार में कश्मीर सरकार का दृष्टिकोण बदला था? जुलाई में पटेल ने कश्मीर के महाराजा को यह विश्वास दिलाया कि कांग्रेस भारतीय राजाओं के विरुद्ध नहीं थी और न ही उनके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करना चाहती थी। (पत्र न० ३८) सितम्बर में महाराजा ने विवश होकर समस्त राजनीतिक बन्दियों को मुक्त कर दिया। इसी समय उत्तर-पश्चिमी सीमा को पार करके पाकिस्तान के समर्थन तथा सहयोग से कुछ कबाइलियों ने कश्मीर में घुसपैठ आरम्भ करदी जिसने अक्तूबर ४७ में एक भारी आक्रमण का रूप ले लिया। अक्तूबर के आरम्भ में लिखे गए पत्र में कश्मीर अधिकारी-वर्ग इस संकट की कठिन परिस्थिति को समझने में असमर्थ रहे। घटनाओं का क्रम बहुत वेग से बढा।

२७ सितम्बर को नेहरू ने पटेल को महत्वपूर्ण पत्र लिखा जिसमें उन्होंने महाराजा के लिए शेख अब्दुल्ला के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार करना अत्यन्त आवश्यक बताया। शेख अब्दुल्ला अपने साथ लोगों को उस समय तक नहीं लेजा सकता जब तक वह उनके समक्ष कुछ निश्चित प्रस्ताव न रख सके। शेख के पाकिस्तान विरोधी होने और नेहरू के परामर्श से अपने मार्ग निर्धारित करने के आश्वासन से नेहरू बहुत प्रभावित थे और इसलिए उसका समर्थन करने

के लिए इच्छुक थे (पत्र न० ४९) कश्मीर के भारतीय सघ मे सम्मिलित होने का प्रश्न प्राय सभी नेताओ के पत्र-व्यवहार का मुख्य विषय था। कश्मीर के अधिकारी अक्तूबर के आरम्भ मे भारत सरकार से विभिन्न प्रकार की सहायता के लिए अनुरोध करते रहते थे।

पटेल और नेहरू के दृष्टिकोण मे अन्तर इन पत्रो मे स्पष्ट दिखाई देता है। नेहरू शेख अब्दुल्ला के समर्थन तथा उनके योगदान पर अत्यधिक महत्त्व देते थे। सरदार पटेल राज्य प्रशासन को लोकप्रिय बनाने तथा आक्रान्ताओ के विरुद्ध जन-सहयोग प्राप्त करने की दिशा मे शेख का भी समर्थन प्राप्त करने के लिए कश्मीर राज्य को सलाह देते थे। साथ ही वे सेना और पुलिस मे सब ही समुदायो के लोगो को भर्ती करने की भी सलाह देते थे (पत्र न० ४९, ५७, ६५)। मेहरचन्द महाजन, कश्मीर के प्रधानमत्री ने उत्तर मे लिखा कि 'कश्मीर की सेना तथा पुलिस के मुसलमान सदस्यो ने प्राय राज्य का साथ छोड दिया। अथवा उचित व्यवहार नही किया (पत्र न० ६६, ६७)।

पाँचवे अध्याय मे माउन्टबेटन और उसके सहयोगियो की १ नवम्बर, १९४७ को लाहौर मे हुई बातचीत का विवरण दिया गया है इसमे पटेल द्वारा लिखा गया कोई पत्र नही है। इतना अवश्य स्पष्ट होता है कि भारत सरकार ने २७ अक्तूबर को कश्मीर के अधिमिलन की स्वीकृति के समय ही माउन्टबेटन ने यह सूचित किया था कि कश्मीर जनमत सग्रह के पश्चात् ही राज्य के अधिमिलन के प्रश्न का निर्णय हो सकेगा (परिशिष्ट ८)। १नवम्बर को लाहौर मे जिन्ना के साथ बात करते हुए माउन्टबेटन ने सयुक्त राष्ट्र सघ के तत्त्वाधान मे तथा भारत पाकिस्तान की सम्मिलित सेनाओ की उपस्थिति मे जनमत सग्रह का प्रस्ताव रखा था (पत्र न० ७२ के साथ सलग्न प्रस्ताव)।

शेख अब्दुल्ला को नेहरू के दबाव के फलस्वरूप कश्मीर मन्त्रिमण्डल मे सम्मिलित कर लिया गया था लेकिन महाराजा हरिसिंह व्यक्तिगत रूप से शेख को पसन्द नही करते थे। शेख ने बिना महाराजा की अनुमति के जम्मू पर अपना अधिकार स्थापित करने का प्रयत्न किया। कश्मीर के अधिकारियो की यह शिकायत थी कि शेख अपने अधिकारो का निरकुश रूप मे प्रयोग कर रहा था (पत्र न० ७४, ८१)। पटेल इस बात के लिए इच्छुक थे कि राज्य मे प्रतिनिधि प्रशासन शीघ्र ही स्थापित किया जाए। नेहरू ने महाराजा को १ दिसम्बर, १९४७ को स्पष्ट लिखा कि उन्होने जनमत सग्रह के प्रस्ताव को विश्व मे अपने पक्ष को प्रबल बनाने के लिए स्वीकार किया था। यदि जनमत सग्रह होने वाला था तब हमे मुसलमानो (कश्मीर मे बहुसख्यक समुदाय) का समर्थन प्राप्त करना चाहिए। शेख अब्दुल्ला एक मात्र व्यक्ति है जो इस स्थिति को सभाल सकते है। नेहरू चाहते थे कि कश्मीर की जनता यह अनुभव करे कि भारत के साथ अधिमिलन से उन्हे लाभ पहुँचा है इसलिए वहाँ के मुसलमानी जनसख्या को यह अनुभव होना चाहिए कि उसे भारत के साथ विलय मे सुरक्षा तथा उचित स्थान मिल सकता है। इसी पत्र मे कश्मीर विभाजन की चर्चा का भी वर्णन किया गया था। नेहरू कश्मीर और जम्मू के आधार पर विभाजन के विरुद्ध थे लेकिन पूछ क्षेत्र के पाकिस्तान मे चले जाने की बात को भाषाई आधार पर उचित समझते थे।

इसी पत्र मे उन्होने शेख अब्दुल्ला के महत्त्व को और अधिक स्पष्ट लिखा कि वह ही कश्मीर के लोगो की प्रतिक्रिया को अच्छी तरह समझ सकता था। 'हमे अपने प्रत्येक काय के लिए उस पर निभर रहना होगा नही तो यह नीति असफल रहेगी' (पृ० १०४) शेख अब्दुल्ला को प्रधान मत्री होना चाहिए और उसे मत्री मण्डल बनाने के लिए कहा जाना चाहिए। राजा द्वारा नियुक्त दीवान मत्रिमण्डल की बैठको की अध्यक्षता कर सकता था किन्तु उसे प्रधान मत्री नही कहा जाना चाहिए (पत्र न० ८८)। गोपाल स्वामी अयगर ने भी जो पहले कश्मीर महाराजा के प्रमुख दीवान रह चुके थे महाराजा को नेहरू के कहे अनुसार परामश दिया कि शेख को प्रधान मत्री बनाया जाए (पत्र न० ८९)।

कश्मीर सरकार इस परामश की अनदेखा नही कर सकती थी। केवल एक ही सम्भावना थी कि वे सरदार पटेल को सूचित करें। वे वस्तु स्थिति जानते थे और किसी एक पक्ष के साथ बधे हुए नही थे। उन्होंने अन्य स्थानो पर राज्यो की समस्याओ को सुलझाया था। महाराजा के मुख्य सलाहकार मेहरचन्द महाजन ने पटेल को लिखा कि 'वर्तमान प्रशासन (शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व मे) हिटलर के तरीको पर चलाया जा रहा है मै ऐसे अन्यायी प्रशासन से सम्बन्धित नही रहना चाहता हूँ।' उच्च न्यायालय को बन्द कर दिया गया है सैकडो लोग जेल मे हैं जिन पर मुकदमा चलाए जाने की कोई सम्भावना नही है शेख अब्दुल्ला की इच्छा ही कानून है (पत्र न० ९०)।

भारतीय नेताओं के पत्रो से एक बात अवश्य स्पष्ट होती है कि किस प्रकार शेख अब्दुल्ला की इच्छाओं के अधीन भारत सरकार अपनी स्थिति से निरन्तर हटती गई और एक-एक करके पूरी तरह से शेख अब्दुल्ला के शिकन्जे मे फसती गई। पहले पटेल तथा नेहरू ने मैसूर मे लागू की गई प्रणाली को कश्मीर मे लागू करने का परामश दिया और फिर धीमे-धीमे नेहरू, गोपालस्वामी आयगर ने दबाव डाल कर एक-एक विभाग को महाराजा के नियत्रण से निकाल कर शेख अब्दुल्ला के अधीन कर दिया। मैसूर प्रणाली मे दो अनुसूचीया थी—एक मे महाराजा के नियत्रण के विषय थे और दूसरी मे प्रधान मत्री के अधीन विषय थे। महाराजा को अपना दीवान नियुक्त करने, अल्प सख्यको के उचित अधिकारो की सुरक्षा, व्यक्तिगत सम्पत्ति, सेना तथा निर्वाचन प्रणाली आदि पर नियत्रण उपलब्ध था। महाराजाने कई बार यह कहा कि इस प्रणाली के अधीन प्रशासन चलाया जाए और शेख अब्दुल्ला की निरकुशता को समाप्त किया जाए। वह सेना मे मुसलमानो की भर्ती को नियत्रित रखना चाहता था क्योकि पाकिस्तान के आक्रमण के समय अधिकाश मुसलमान सैनिको ने या तो समपण कर दिया या छोडकर आक्रान्ता के साथ मिल गए। उसका कहना था कि सकट की घडी में यदि सैनिक निष्ठावान न हो तो वे अपने पक्ष को ही हरवा देंगे (पत्र न० ९४)। पटेल प्रशासन मे स्पष्ट चिन्तन रखते थे। दिसम्बर १९४७ मे ऐसी ही एक घटना हुई। पटेल ने गोपालस्वामी आयगर को कश्मीर सम्बन्धी यातायात की समस्या हल करने के लिए राज्यमत्रालय द्वारा काय करने को कहा यद्यपि नीति सम्बन्धी मामले विदेश मत्रालय द्वारा तय होते थे। गोपालस्वामी नाराज हुए तो पटेल ने अपनी बात समझाई और वापस लेने के लिए भी तैयार हो गए। लेकिन जब नेहरू ने गोपालस्वामी

का जोरदार समर्थन किया और पटेल को कडा पत्र लिखा। पटेल ने उत्तर मे अपना त्याग पत्र भेजने का निश्चय किया लेकिन बाद मे आपस मे सुलह सफाई हो गई (पत्र न० ९५–१०१)।

कश्मीर के झगडे को संयुक्त राष्ट्रसंघ मे ले जाने के निर्णय के पश्चात् नेहरू ने शेख अब्दुल्ला के पक्ष मे महाराजा हरिसिंह पर दबाव डालना आरम्भ किया। दिसम्बर, १९४७ के अन्त मे मेहरचन्द महाजन ने शेख अब्दुल्ला के निरकुश अत्याचारो की शिकायत की। इसी पत्र मे उसने शेख अब्दुल्ला के उस प्रस्ताव का भी वर्णन किया जिसमे शेख ने महाराजा को कश्मीर के दो टुकडे करने के लिए कहा। हिन्दू बहुसख्यक क्षेत्र महाराजा को और शेष क्षेत्र मे पाकिस्तान की भाँति एक अन्य स्वतंत्र मुस्लिम राज्य की स्थापना का सुझाव था। शेख के निरकुश प्रशासन के कुछ उदाहरण भी मेहरचन्द ने पटेल को भेजे (पत्र न १०३)। गोपालस्वामी भी शेख को महाराजा के दृष्टिकोण से सहमत कराने मे असमर्थ रहा। पटेल ने समस्त मतभेदो का सार इस बात मे केन्द्रित कर दिया कि महाराजा मैसूर प्रणाली पर प्रशासन चलाने को सहमत है लेकिन शेख इसके लिये तैयार नही था। शेख हाईकोर्ट तथा महाराजा की पूरी तरह अनदेखी करता था (पत्र न १०६, १०८)। नेहरू शेख का पूरा समर्थन करने की बात कहते थे (पत्र न ११०)।

अब भारत सरकार के समक्ष एक सवैधानिक समस्या उत्पन्न हो गई थी। हरिसिंह मैसूर प्रणाली को पूरा करना चाहता था जबकि शेख उसको प्राय समाप्त करना तथा अपने लिये निरकुश अधिकार चाहता था। जवाहरलाल और पटेल के परस्पर पत्रो (न-११५-१२१) के अध्ययन से दोनो के दृष्टिकोण का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। पटेल पहले विषय की जानकारी कर लेते तथा बाद मे निर्णय लेते थे। नेहरू बहुत-सी बातो मे अपनी धारणाए जल्दी बना लेते थे। ३१ जनवरी, १९४८ को लिखा गया हरिसिंह का सरदार पटेल के नाम पत्र महाराजा के चरित्र पर सब से अच्छी टिप्पणी है। महाराजा कश्मीर का भारत से अधिविलय समाप्त करना चाहते थे (पत्र न १२४)। अप्रेल १९४८ तक जवाहरलाल इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके थे कि महाराजा को शेख के विरुद्ध कोई कार्य नही करना चाहिए क्योकि सुरक्षा परिषद् (सयुक्तराष्ट्र सघ) को यह विश्वास नही होना चाहिए कि प्रजातान्त्रिक प्रशासन अब भी दुर्बल था।

मई १९४८ मे जवाहरलाल ने श्रीनगर से लौटकर लिखा कि शेख अब्दुल्ला श्रीनगर घाटी मे अत्यन्त लोकप्रिय था। लेकिन महाराजा तथा शेख मे तनावपूर्ण स्थिति बनी हुई थी। वे अधिकाश उत्तरदायित्व महाराजा का मानते थे जो अपने पिछले जीवन की आदतें छोडने को तैयार नही थे (पत्र न १४९)। सरदार पटेल का कहना था कि शेख उस अनुबध का जो मार्च मे निश्चित किया गया था पालन करने को तैयार नही था। शेख और बख्शी गुलाम मोहम्मद दोनो ने ही महाराजा के निजी प्रशासन विभाग, भूमि अथवा अन्य अधिकारो की अवहेलना की है, अपने पत्रो का शेख द्वारा उत्तर न दिये जाने की बात भी पटेल ने नेहरू को लिखी थी (पत्र न १५३ या १५४)। शेख के महाराजा से बिना पूछे हुए कार्य किये जाने के अपमान से बचने के लिए महाराजा जम्मू चले आये,

अप्रेल १९४९ तक शेख और महाराजा के सम्बन्ध अत्यधिक कटु हो गए थे। मई १९४९ मे शेख स्वतन्त्र कश्मीर की बात कर रहा था। नेहरू अधिकाधिक इस बात से प्रभावित हो रहा था कि विदेशो मे भारत के प्रति क्या प्रतिक्रिया हो रही थी। मई के आरम्भ मे ही पटेल ने हरिसिंह को कश्मीर गद्दी अपने पुत्र करनसिंह को देने का सुझाव दिया। हरिसिंह ने शिकायत की कि भारत सरकार ने शेख अब्दुल्ला को समझौतो का अतिक्रमण करने की पूरी छूट दे रखी थी और हमेशा उसका ही समर्थन करती थी। पटेल उत्तर मे इससे अधिक नही कह सके कि जहाँ महाराजा ने इतने परिवर्तन सहन किए हैं वहाँ परिस्थितियो को ध्यान मे रखकर यह भी सहन करे (पत्र न० २१६—II)। इसी बीच सयुक्त राष्ट्र परिषद की कार्यवाही का कश्मीर समस्या पर प्रभाव पड रहा था। पटेल का यह विश्वास था कि भारत किसी भी समय इग्लैण्ड से सहयोग की आशा नही कर सकता। वे यह भी कहते थे कि पाकिस्तान ने भारत को अपने बुद्धि कौशल से पराजित कर दिया था (पत्र न० २२८)। अक्तूबर १९४९ मे भारत की सविधान सभा मे कश्मीर से सम्बन्धित धारा ३०६ ए पास की गई उसके सम्बन्ध मे जो पत्र इस जिल्द मे प्रकाशित किए गए हैं उनसे यह स्पष्ट होता है कि शेख अब्दुल्ला किसी भी बात पर स्थिर नही रहना चाहता था। सरदार पटेल ने यही कटु सत्य गोपाल स्वामी अयगर को अपने एक पत्र मे लिख दिया। 'जब कभी शेख साहब किसी भी बात से पीछे हटना चाहते हैं वे हमेशा अपनी प्रजा के प्रति अपने कर्त्तव्य की दुहाई देते है। निस्सन्देह उसका भारतीय जनता अथवा सरकार के प्रति तो कोई कर्त्तव्य है ही नही लेकिन व्यक्तिगत रूप से उसका आपके अथवा प्रधान मत्री के प्रति भी कोई कर्तव्य नही है जिन्होने उसकी बात मानने के लिए हर सम्भव प्रयास किया (पत्र न० २४४)। ऐसी परिस्थिति मे पटेल ने किसी भी सशोधन को पूव अनुमति देदी।

इस जिल्द मे प्रकाशित पत्रो से कुछ विषयों पर नया प्रकाश पडता है। सबसे पहले यह स्पष्ट होता है कि १९४६—४७ मे शेख अब्दुल्ला की लोकप्रियता की कल्पना नेहरू द्वारा प्रतिपादित की गई थी। यह लोकप्रियता किसी निष्पक्ष आधार पर सिद्ध नही हुई थी। शेख अब्दुला ने अक्तूबर १९४७ मे सत्ताधारी बन जाने के पश्चात् अपनी लोकप्रियता बढाने का प्रयत्न किया। अपने विरोधियो को जेल मे डलवाकर तथा उन पर विभिन्न प्रकार के अत्याचार करके उसने प्रभाव बढाया। नेहरू के समक्ष ये तथ्य कई प्रकार मे प्रस्तुत किए गए थे किन्तु उसने इनकी अनदेखी करदी। शेख अब्दुल्ला को इतनी अधिक प्राथमिकता देने मे नेहरू के योगदान का अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है। साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि शेख द्वारा स्वतन्त्र कश्मीर का समर्थन राज्य के अधिविलय के आरम्भ से ही किया जा रहा था चाहे यह समर्थन स्पष्ट तथा स्थिर न रहा हो। शेख की नीति से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस पर पाकिस्तान के प्रोपेगेन्डा का प्रभाव अधिक पडता था। जिन-जिन बातो के लिए शेख पर पाकिस्तान द्वारा व्यग किया जाता था उन-उन कार्यों को सुधारने का प्रयत्न शेख करता था। इससे उसने भारत सरकार को इस बात के लिए बाध्य किया कि वह शेख के कसने पर अपनी स्थिति निरन्तर बदलती जाए।

कश्मीर महाराजा की स्थिति आरम्भ मे तो अवश्य कुछ तर्कहीन दिखाई पडती है किन्तु १९४७ नवम्बर के पश्चात् उसने स्थिति को बहुत अच्छी तरह समझ लिया था और यथा सम्भव अपने को परिस्थिति के अनुसार ढालने का प्रयत्न किया। माउन्टबैटन के नेहरू को लिखे गए पत्रो की बहुत कम प्रतियाँ इस खण्ड मे हैं। इनमे वे ही उपलब्ध है जो नेहरू द्वारा पटेल को भेजी गई थी। इनसे यह अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है कि भारत सरकार की नीति निर्धारित करने मे माउन्टबैटन का योगदान प्रभावशाली रहा।

पटेल का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान कश्मीर के महाराजा को उचित मार्ग बताना था। महाराजा हरिसिंह के लिए मेहरचन्द महाजन जैसा योग्य दीवान,पटेल द्वारा ही ढूढा गया था। महाराजा हरिसिंह पूरी तरह से पटेल पर निर्भर करते थे। नेहरू और गोपालस्वामी अयगर दोनो ही हरिसिंह से किसी भी नीति को स्वीकार करवाने के लिए सरदार पटेल की सहायता लेते थे। पटेल के कहने पर १९४८ की गर्मियो मे हरिसिंह जम्मू छोडकर श्रीनगर रहने लगे थे। यद्यपि शेख से उनके मतभेद अधिक थे। इसके पश्चात् हरिसिह को देहली बुलवाना और राजगद्दी त्याग ने के लिए तैयार करना केवल पटेल का ही कार्य था। यह कल्पना की जा सकती है कि महाराजा के अपनी जिद पर स्थिर रहने मे राज्य के विकास मे कुछ बाधाए उत्पन्न हो सकती थी। पटेल के परामर्श पर हरिसिंह और उनकी पत्नी ने करनसिंह को राजगद्दी सौंप दी और यथार्थ वस्तुस्थिति मे मेल करने का प्रयत्न किया। पटेल का यह योगदान बहुत कम लोगों को पता है।

दूसरी जिल्द मे सरदार पटेल के पत्रो का मुख्य विषय १९४५-४६ मे होने वाले निर्वाचन हैं। ये निर्वाचन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे क्योकि सत्ता हस्तान्तरण मे इन निर्वाचनो मे सफलता का प्रभावशाली योगदान था। केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के लिए १९३४ और प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा के लिए १९३६ मे निर्वाचन हुए थे। इन १०-१० वर्षो के पश्चात् प्रत्येक राजनीतिक दल के लिए यह सुअवसर था कि वह भारतीय जनता मे अपने प्रभाव की सीमा कर सके। मुस्लिम लीग के भारत विभाजन प्रचार का एक ही प्रभावशाली उत्तर था कि इण्डियन नेशनल कांग्रेस मुस्लिम मतदाताओ का समर्थन प्राप्त कर सके और अपने आपको एक वास्तविक राष्ट्रीय दल के रूप मे सिद्ध कर सके।

इस देश व्यापी निर्वाचन का प्रबन्धकार्य सरदार पटेल को सौपा गया था। निर्वाचन का मैनिफेस्टो नेहरू द्वारा तैयार किया गया था। इस मैनिफेस्टो मे साम्प्रदायिकता अथवा देश विभाजन की समस्या का वर्णन तक नही था। निर्वाचन भारत की स्वतन्त्रता की माग के आधार पर लडा गया था। भाषाई और सांस्कृतिक आधार पर प्रान्तो अथवा अन्य राज्य क्षेत्रो मे फेरबदल सम्भव था। पटेल ने निर्वाचन के पूर्व हिन्दू महासभा के साथ किसी प्रकार का निर्वाचन समझौता अस्वीकार कर दिया था (पृ २४)। मौलाना आज़ाद ने अपना सारा ध्यान बगाल, पजाब और अन्य मुस्लिम बहुसंख्यक क्षेत्रो के निर्वाचन मे लगाया। आज़ाद और पटेल दोनो का अनुमान था कि हिन्दू महासभा के जीतने की किसी भी क्षेत्र मे सभावना नही है। मौलाना आजाद का विचार था कि पजाब मे अहरार और यूनियनिस्ट मुसलमान सदस्यो की जीत निश्चित सी थी।

(पृ० २६–२७) लेकिन शीघ्र ही सरदार पटेल ने उदाहरण देकर बताया कि पजाब मे मुस्लिम लीग के अधिकाश प्रत्याशियो के नामाकन पत्र अस्वीकृत होने पर अहरार सदस्यो ने तुरन्त मुस्लिमलीग की सदस्यता स्वीकार करली। उन्होने आजाद को परामर्श दिया कि वे अपनी नीति पर पुन विचार कर ले। पटेल का विचार था कि अहरार दल के सदस्यो को बहुत कम सफलता मिलेगी (पृ ४७)। पजाब मे अत्यधिक धन खर्च करके भी काग्रेस को अधिक सफलता मिलने की सम्भावना नही थी। इसी प्रकार बगाल मे कृषक प्रजा पार्टी के सदस्यो का मुस्लिम लीग मे सम्मिलित हो जाना एक भारी कठिनाई पैदा कर रहा था (पृ ४६)। बगाल और पजाब मे मुस्लिम दलो के साथ मौलाना आजाद द्वारा किए गए गठबन्धन टूटते दिखाई पडे। इससे मौलाना ने पटेल पर दोष आरोपण आरम्भ किया। इन दोनो नेताओ के पत्र व्यवहार से आजाद की दुबलता स्पष्ट हो जाती है। काग्रेस अध्यक्ष होने के नाते आजाद यह चाहते थे कि केन्द्रीय निर्वाचन बोर्ड की बैठक के पश्चात किसी भी अपील का निर्णय वे स्वय करें। पटेल ने इस पर आपत्ति की, और यह बताया कि मौलाना आजाद उस बोड की नीतियो के विरुद्ध अपील नही सुन सकते थे जिसके वे स्वय एक सदस्य थे। कई स्थानो पर आजाद ने मनमाने ढग से केन्द्रीय बोर्ड के निर्णयो को बदल दिया था। पटेल ने कांग्रेस वर्किंग कमेटी तथा केन्द्रीय बोर्ड की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया। आजाद ने अपनी गलती स्वीकार की और भविष्य मे ऐसा न करने का आश्वासन दिया।

दूसरे अध्याय मे काग्रेस की सफलता के सम्बन्ध मे पटेल के जवाहरलाल, राजेन्द्र बाबू तथा अन्य के साथ पत्र व्यवहार दिए गए हैं। नेहरू का विचार था कि अधिकाश स्थानो पर पुरानी काग्रेसी कमेटियो का जनता से सम्पक नही रह गया था। इसलिए उनके पुनर्गठन की आवश्यकता थी। विभिन्न स्थानो पर जनता से सम्पर्क होने पर नेहरू का विचार था कि अधिकाश लोग काग्रेस समर्थक थे। पटेल इस मूल्याकन से सहमत नही थे। वे लोगो की भीड को बाहरी प्रदशनात्मक सहानुभूति समझते थे। एक अन्य अवसर पर पटेल ने यह कहा था कि नेहरू को सुनने के लिए भीड अवश्य अधिक एकत्र हो जाती हैं लेकिन उसके भाषणो का जनता पर प्रभाव सदिग्ध होता था। हिन्दुओ को इसकी आवश्यकता नही थी और मुसलमानो पर उनका कोई प्रभाव नही होता था (पृ ४६)। मौलाना की कार्यविधि के विषय मे जवाहरलाल और पटेल दोनो को शिकायत थी। पटेल का कहना था कि मौलाना आजाद न तो स्वय ही निर्णय लेते थे और न दूसरो को निर्णय का अधिकार ही देते थे (पृ० ७४)। नेहरूजी भी पजाब मे मुस्लिम लीग की सफलता की कल्पना नही कर पा रहे थे वे समझते थे कि काग्रेस प्रचार से मुसलमान मतदाताओ पर अच्छा प्रभाव पड रहा था। वे चाहते थे कि काग्रेस प्रत्येक मुस्लिम के स्थान पर अपना प्रत्याशी खडा करें। नेहरू को लिखे गए पत्र से यह भी पता लगता है कि केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा मे काग्रेसी दल के नेता के लिए मौलाना आजाद ने आसफअली का समर्थन किया, पटेल के विरोध करने पर नेहरू ने आसफअली को अलग रहने पर सहमत कर लिया।

राजेन्द्रप्रसाद के साथ पत्रो मे जमशेदपुर के श्रमिको का हडताल और उससे उत्पन्न

समस्याओ पर विशेष चर्चा की गई है। हिन्दू महासभा के साथ काग्रेस के समझौता न करने का सही कारण भी एक पत्र मे मिलता है। पटेल ने लिखा कि दोनो तरफ से हानि सहन करना ठीक नही था। 'एक ओर लीग हम पर आक्रमण कर रही है और हमे गैर मुस्लिम निर्वाचन क्षेत्रो पर ही निर्भर करना पडेगा। हम उन स्थानो मे से किसी भी स्थान को छोडने के लिए तैयार नही हो सकते जिसे हम सरलता से प्राप्त कर सकते हैं' (पृष्ठ ६१)। सरदार पटेल अपने यथार्थवादी दृष्टिकोण के लिए प्रसिद्ध थे इसकी एक झलक जमशेदपुर के मजदूरो की समस्या को हल करने मे दिखाई पडती है। उनका कहना था कि हमे उस समय तक प्रतीक्षा करनी पडेगी जब तक वे सत्ताधारी न बन जाएँ। विभिन्न नेताओ के साथ पत्र व्यवहार से यह स्पष्ट हो जाता है कि पटेल का निर्वाचन के लिए व्यक्तियो के चयन मे महत्त्वपूर्ण योगदान था। यद्यपि इन पत्रो मे पटेल का ही पक्ष प्रस्तुत किया गया है फिर भी किसी भी निष्पक्ष पाठक को पटेल की महत्त्वपूर्ण भूमिका सहज ही स्पष्ट हो जाती है। प्राय सभी नेता आर्थिक सहायता के लिए पटेल को ही लिखते थे। विभिन्न उद्योगपतियो अथवा प्रमुख धनाढ्य व्यक्तियो से सम्पर्क अथवा चन्दा लेने का काय पटेल का ही था।

तीसरे अध्याय मे विभिन्न प्रान्तो के निर्वाचनो से सम्बन्धित समस्याओ का उल्लेख है। गोविन्दवल्लभ पन्थ को लिखे गए एक पत्र मे पटेल ने इस बात पर ध्यान दिलवाया कि किसी भी व्यक्ति का प्रस्ताव उस व्यक्ति की पूर्व स्वीकृति के बिना न किया जाए। विभिन्न प्रान्तीय काग्रेसी नेताओ मे पटेल इस प्रश्न का उत्तर बहुधा पूछते थे कि मुस्लिम स्थानो पर काग्रेसी प्रत्याशियो की क्या सम्भावना है ? क्या वे सफल हो सकेगे। श्यामाप्रसाद मुखर्जी के नेतृत्व के फलस्वरूप बगाल मे हिन्दू महासभा के प्रत्याशियो के जीतने के सम्बन्ध मे पटेल चिन्तित थे। उन्होने प्रफुल्लचन्द्र घोष को हिन्दू महासभा तथा मुस्लिम लीग का जी तोड विरोध करने का परामर्श दिया। बगाल के काग्रेसी नेता चाहते थे कि सरदार पटेल श्यामाप्रसाद मुखर्जी के विरुद्ध निर्वाचन बैठको मे भाषण दें। लेकिन पटेल बीमार होने के कारण असमर्थ रहे। यू० पी०, मध्य प्रदेश, बगाल आदि प्रान्तो के कांग्रेसी नेताओ को लिखे गए पत्रो मे मुस्लिम स्थानो पर काग्रेसी उम्मीदवारो की सफलता के लिए विशेष प्रयत्न करने पर पटेल बल देते थे। प्राय प्रत्येक प्रान्त की आन्तरिक राजनीति का प्रतिबिम्ब इन पत्रो मे मिल जाता है। मद्रास मे राजगोपालाचारी के नामाकन से सम्बन्धित विवाद की वास्तविकता (पृ० १३०–१३३), पजाब मे सिक्खो और काग्रेसी उम्मीदवारो मे मतभेद (पृ० १३५–१४०) पर कुछ नए तथ्यो का ज्ञान उपलब्ध होता है। एक बार निर्णय के लिए जाने के पश्चात् पटेल उससे पीछे नहीं हटना चाहते थे। विभिन्न प्रान्तीय नेता अन्तिम समय मे सघर्ष से बचने के लिए तैयार रहते अथवा कोई जोड-तोड बिठाकर कार्य करना चाहते थे। लेकिन पटेल उनकी राय मे सहमत नही थे।

सरदार पटेल के चरित्र की कुछ विशेषताएँ बडी सरलता मे उभर कर सामने आती हैं। आन्ध्र प्रदेश के एक नेता—टी० आर० कृष्णप्पा ने अपने नामाकन के सम्बन्ध मे पटेल

को लिखा। यद्यपि कलप्पा केन्द्रीय लेजिस्लेटिव एसेम्बली के सदस्य थे लेकिन पटेल ने स्पष्टरूप से उन्हें मना कर दिया क्योंकि नागपुर समिति ने एक दूसरे व्यक्ति का नाम प्रस्तुत किया था (पृ० १३०-१३१)। वैधानिक पद्धति और व्यवस्थित मर्यादा का पालन करने में पटेल अन्य नेताओ से बहुत आगे बढे हुए दिखाई पडते हैं। मौलाना आज़ाद से उनका मतभेद इसी आधार पर हुआ था जिसका वर्णन ऊपर कर दिया गया है। पजाब के नेता डा० गोपीचन्द भार्गव को भी उन्होने बताया कि काग्रेस के नाम पर कोई विज्ञापन केवल एक व्यक्ति द्वारा नही दिया जाना चाहिए काग्रेस की ओर से कोई भी नीति वक्तव्य केवल वर्किंग कमेटी द्वारा ही दिया जाना चाहिए (पृ० १५०-१५१)।

निर्वाचन के लिए काग्रेस के केन्द्रीय सगठन से आर्थिक सहायता अवश्य दी जाती थी लेकिन पजाब के नेताओ के अधिक वित्तीय सहायता मागने तथा प्रान्तीय स्तर पर धन एकत्र न सकने पर पटेल ने उन्हे स्पष्ट लिखा कि स्थानीय तथा प्रान्तीय स्तर पर आर्थिक साधनो का जुटाना अत्यन्त आवश्यक था (पृ० १५२-१५४)। उडीसा प्रान्तीय निर्वाचन मण्डलो के निर्धारण और प्रतिनिधि चयन से सम्बन्धित कई कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गई थी लेकिन पटेल ने बहुत धैर्य से उसे हल किया (पृ० १५४-१६७)।

चौथे अध्याय मे मद्रास प्रान्त की समस्याओ का विशेष रूप से उल्लेख है, वहाँ विभिन्न दलो में परस्पर द्वेष भावना अधिक थी। राजगोपालाचारी और कामराज की परस्पर प्रतिस्पर्धा और एक दूसरे पर दोष आरोपण की स्पष्ट जानकारी उपलब्ध हो जाती है। पटेल बहुत लम्बे समय से राजगोपाचारी के साथ कार्य कर चुके थे। मद्रास प्रान्त के अन्य काग्रेसी नेताओ की अपेक्षा वे राजाजी को योग्यता, ईमानदारी और कर्त्तव्य परायणता मे अधिक निपुण मानते थे। लेकिन इतना होते हुए भी पटेल ने मद्रास काग्रेस पर राजाजी को थोपना नही चाहा। श्री मुदालियर से वाद विवाद मे काग्रेस की केन्द्रीय वर्किंग कमेटी और प्रान्तीय सगठनो के आपसी स्वरूप पर व्याख्या की गई है प्रान्तीय सगठन को कार्य करने की पूरी छूट थी लेकिन केन्द्रीय सगठन सामान्य हित और उचित प्रशासन के लिए आवश्यक था। मद्रास के प्रान्तीय नेता काग्रेस हाई कमाण्ड की ईमानदारी पर १९४५-४६ मे भी सन्देह करते थे (पृ० १८२)। वे राजाजी को काग्रेस मे सम्मिलित करने के लिए तैयार नही थे और अपने दृष्टिकोण के लिए तकनीकी तर्क ढूढते थे। राजाजी काग्रेस हाई कमाण्ड से पाकिस्तान और अन्य समस्याओ के प्रति दृष्टिकोण के कारण अलग हो गए थे। पटेल का तर्क था कि यदि प्रान्त मे अधिकाश जनमत राजाजी के काग्रेस मे सम्मिलित होने के पक्ष मे था और राजाजी काग्रेस के निर्णयो और अनुशासन के अनुसार कार्य करने को तैयार हो तब उन्हे काग्रेस मे सम्मिलित कर लेना चाहिए। कामराज और मुदालियार दोनो ने ही राजाजी के काग्रेस मे सम्मिलित किए जाने पर एक प्रकार की धमकी काग्रेसी हाई कमाण्ड को दी थी। पटेल ने भविष्य-वाणी के रूपो मे कहा था कि यदि मद्रास (तामिलनाड) के नेता डर की भावना से कोई कार्य कर रहे थे तो उस प्रदेश का भविष्य अत्यन्त खराब है। पटेल ने कामराज को भी यह आश्वासन दिया था कि हाई कमाण्ड कोई भी निर्णय प्रान्तीय सगठन पर नही थोपना चाहता था।

एक अन्य पत्र में पटेल ने दिसम्बर १९४७ की स्थिति की व्याख्या करते हुए कहा था कि कांग्रेस को आन्तरिक और बाह्य शक्तियों के साथ संघर्ष करना पड़ रहा था। आन्तरिक संघर्ष मुस्लिम लीग और नौकरशाही के साथ था और बाह्य संघर्ष शक्तिशाली अंग्रेजी साम्राज्य से था। ऐसी स्थिति में कांग्रेसी नेताओं को अपने आन्तरिक झगड़े अवश्य समाप्त कर देने चाहिये। कांग्रेसी संगठन की शक्ति को कोई मानने के लिए तैयार नहीं होगा यदि इसके आन्तरिक झगड़ों की बाजारों में चर्चा होती रही और विभिन्न पक्ष एक दूसरे पर आक्षेप लगाते रहे। विभिन्न व्यक्तियों का एक दूसरे के विरुद्ध आक्षेप, पारस्परिक द्वेष, संदेह आदि के पर्याप्त उदाहरण पटेल को लिखे गए पत्रों में उपलब्ध हैं। इस अध्याय के अन्तिम भाग में पटेल और टी प्रकाशम के मध्य पत्र-व्यवहार है। यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न से सम्बन्धित था। क्या एक सार्वजनिक नेता जनता द्वारा अर्पित धनराशि को अपने निजी काम में खर्च कर सकता है? प्रकाशम का तर्क था कि वह कर सकता था। पटेल ने परामर्श दिया था कि ऐसा करना धन का दुरुपयोग होगा। अन्त में पटेल ने यहां तक लिखा कि न केवल प्रकाशम को मंत्री नहीं बनना चाहिए बल्कि उन्हें विधान सभा की सदस्यता से भी त्याग पत्र दे देना चाहिये (पृ० २४८-२५१)।

पांचवें अध्याय में पत्रों का सम्बन्ध विभिन्न प्रकार की साम्प्रदायिक समस्याओं से है। भारतीय ईसाइयों, गैर ब्राह्मणों आदि की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा की चर्चा की गई है। बेंगलोर (कर्नाटक) निर्वाचन के लिये एक प्रत्याशी को पटेल ने लिखा कि कर्नाटक एक कठिन प्रदेश है जहां लोग भावनाओं से अधिक प्रभावित होते हैं और वहां के सार्वजनिक कार्यकर्ताओं में बहुत कम सहनशीलता है। कर्नाटक विधान सभा कांग्रेस दल परस्पर विरोधी स्वभाव के लोगों से भरी हुई है ऐसे वातावरण में कार्य कर पाना कठिन है (पृ० २७८)।

छठे अध्याय में पंजाब की समस्याओं का उल्लेख है, पंजाब समृद्धशाली प्रांत था और पाकिस्तान की योजना में विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण था, लेकिन वहां कांग्रेस के दो दल थे। पटेल की एक बड़ी चिंता यह थी कि क्या कांग्रेस उन समस्त गैर मुस्लिम स्थानों में सफल हो सकेगी जिनके लिये इसने अपने सदस्य खड़े किये थे (पृ० २८१)। वे चाहते थे कि पंजाब में गोपीचन्द भार्गव, भीमसेन सच्चर और मोहनलाल दाकड़ मिलकर काम करें। यदि ऐसा हो गया तब ही कांग्रेस के सदस्यों के जीतने की सम्भावना है (पृ० २८४-२९०)। पंजाब की एक अन्य समस्या यूनियनिस्ट दल के प्रति कांग्रेसी दृष्टिकोण स्पष्ट करने की थी, पटेल यह समझते थे कि निर्वाचन के पश्चात् इनको सहयोग प्रस्तावित करने का समय नहीं मिलेगा। स्थानीय कांग्रेस में एकता का भारी अभाव था। इसलिए पटेल जहां एक ओर कांग्रेस के आन्तरिक मतभेदों को दूर करने का प्रयत्न कर रहे थे वहां वे यह भी चाहते थे कि कांग्रेस-अकाली वैमनस्य दूर हो जाए। साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली में मुस्लिम लीग के विरुद्ध कांग्रेस को अधिक सफलता मिलने की सम्भावना ही नहीं थी। मास्टर तारासिंह के दृष्टिकोण से पटेल को बहुत ही शिकायत थी। उनका विचार था कि तारासिंह के रहते हुए अकालियों से समझौता नहीं हो सकता, क्योंकि वे मुस्लिम लीग के पक्ष

मे और काग्रेस के विरुद्ध अधिक बोलते थे। यूनियनिस्टो को निर्वाचन मे बहुत कम स्थान मिले इससे पटेल को बहुत दुख हुआ क्योकि इसमे मुस्लिम लीग और भारत विभाजन की योजना को बल मिलना था। भीमसेन के लिखे गए पत्र मे पटेल अपनी निराशा को न छिपा सके । मुस्लिम स्थानो पर किसी भी निर्दलीय अथवा काग्रेसी मुसलमान के जीतने की सम्भावना नही थी। इसका अर्थ स्पष्ट था कि काग्रेस के समस्त नष्ट हुए साधन और नेताओ को दिए गए आश्वासन व्यर्थ ही गए (पृ ३०४-३०७)।

सातवें अध्याय मे सिन्ध के निर्वाचनो की व्याख्या की गई है। यहाँ भी मुख्य समस्या मुस्लिम' स्थानो पर काग्रेस की सफलता को तथा गैर मुस्लिम स्थानो पर काग्रेस की सफलता बनाये रखने की थी। आठवे अध्याय मे उडीसा और आन्ध्र के तनावो का नवें मे मध्यप्रदेश की और दसवें मे बगाल, बिहार, यू पी की समस्याओ का वर्णन है। एक पत्र मे विधानचन्द राय ने लैन्टर्न लेक्चरो की योजना की रूपरेखा प्रस्तुत की थी यह मुसलमानो के साथ सम्पर्क स्थापित करने की दिशा मे एक प्रयास था (पृ ३८६)।

दूसरी जिल्द के विभिन्न पत्रो से पटेल स्वय भी एक अनुशासित तथा अनुशासक नेता दिखाई पडते हैं। निर्वाचन के समय विभिन्न असन्तुष्ट व्यक्तियो के प्रतिवेदन, राजनीतिक दल और राष्ट्रीय हितो मे सामञ्जस्य, काग्रेस के केन्द्रीय हाई कमाण्ड और प्रान्तीय सगठनो मे सन्तुलन, प्रादेशिक नेताओ के दबाव मे निर्णय न करना —ये कुछ ऐसी समस्याएँ थी जिनका हल उस समय भी सरल नही था और आज भी सरल नही है। पटेल के पत्रो को पढने से इन समस्याओ के हल करने मे भी कुछ मौलिक सिद्धातो की प्रधानता दिखाई पडती है। पटेल यह जानते थे कि निर्वाचन के लिए उम्मीदवारो का चयन अत्यन्त ही खराब कार्य है। उन्हे इस बात से बहुत दुख हुआ कि अधिकाश व्यक्ति विधान सभाओ की सदस्यता प्राप्त करने के इच्छुक थे। सत्ता प्राप्ति की यह दौड ठीक नही थी। वे यह भी जानते थे कि ऐसे अवसरो पर बहुत-सी शिकायतें झूठी होती थी। वे प्राय प्रान्तीय कांग्रेस समिति की सिफारिशो को स्वीकार करने के पक्ष मे होते थे। यदि किसी उम्मीदवार को केन्द्रीय हाईकमाण्ड द्वारा अस्वीकृत भी कर दिया जाता तब उसका विकल्प भी प्रान्तीय सगठनो द्वारा ही अनुमोदित होना चाहिए। अपनी ओर से उन्होने व्यक्तियो को प्रान्तो पर उनकी इच्छा के विपरीत नही थोपा। वे यदि किसी व्यक्ति का समर्थन करते तो उसका नाम प्रान्तीय सगठन के पास भेजते थे। उनकी स्वीकृति के पश्चात् ही नामाकन किया जाता था। कांग्रेस दल मे अत्यधिक प्रभावशाली होते हुए भी ऐसी नीति का नियमपूर्वक पालन करने से वे विभिन्न असन्तुष्ट व्यक्तियो द्वारा लगाये गये आरोपो से अपने को सुरक्षित रख सके थे।। सिन्ध के अच्छे कांग्रेस नेता के चयन न किये जाने पर उन्होने लिखा था कि स्थानीय (प्रान्तीय) कांग्रेस-समिति के सदस्य भी ईमानदार और कर्तव्यनिष्ठ हैं इसलिए उनके चयन न करने के उचित ही कारण रहे होंगे (पृ० ३११)। सिन्ध के प्रान्तीय सगठन के एक अन्य नेता द्वारा पटेल पर लगाये गये आक्षेप का उत्तर देते हुए उन्होने लिखा कि प्रत्येक परामर्श हस्तक्षेप नही होता। स्थानीय समिति केवल सिफारिश कर सकती है। उसकी सिफारिश ही निर्णय नही बन सकती। केन्द्रीय बोर्ड के समक्ष प्रत्येक असफल व्यक्ति

अपना पक्ष प्रस्तुत कर सकता है और उसकी सच्चाई के आधार पर प्रान्तीय सिफारिशो को रद्द भी किया जा सकता है।

सरदार पटेल के पत्रो मे हिन्दू महासभा के राजनीतिक महत्त्व को समाप्त करने (पृ० २४,७१) यूनियनिस्ट दल पर विश्वास न करने (पृ० १३६, ७१) काँग्रेस के एक उम्मीदवार को काँग्रेस-नीति से अलग वक्तव्य देने की अनुमति न देने के (पृ० २२४,३०१) अपने अधिकारो की सीमाओ को पहचानने (पृ० २८५) आदि के पर्याप्त उदाहरण मिलते है। पटेल को जनवरी १९४६ तक यह विश्वास हो गया था कि साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति के अधीन मुस्लिम स्थानो पर काँग्रेस को पर्याप्त सफलता नही मिल सकती थी। उन्होंने लिखा था कि पिछले पाँच वर्षों से काँग्रेस का अध्यक्ष एक मुसलमान है लेकिन इससे निर्वाचन परिणाम पर लेशमात्र प्रभाव नही पडा है (पृ० ३०१)।

इस जिल्द मे प्रकाशित पत्रो से १९४५-४६ की कुछ घटनाओ पर नया प्रकाश पडता है। मौलाना आजाद ने अपनी आत्मकथा 'इण्डिया विन्स फ्रीडम' मे बिगडती घटनाओ का अधिकाश दोष नेहरू और पटेल पर डाला है किन्तु उनका कथन व्यक्ति-प्रधान है और उन्होने समकालीन कोई पत्र आदि प्रकाशित नही किये है। यहाँ कई पत्र ऐसे है जिनमे मौलाना आजाद की नीतियो का वास्तविक रूप दिखाई पडता है। आजाद का स्वय केन्द्रीय बोर्ड के निर्णयो (जिसके वे भी एक सदस्य थे) के विरुद्ध अपील सुनाने का विचार था। उन्हे बगाल और पजाब (मुसलमान बहुसख्यक प्रातो) मे काँग्रेसी निर्वाचन अभियान तथा उम्मीदवारो के चयन का समस्त अधिकार था। और भी काँग्रेस के सफल मुस्लिम सदस्यो की सख्या मे कोई वृद्धि नही हुई थी। इतना ही नही बल्कि पजाब के नेता बी० एस० गिलानी ने पटेल को सूचित किया कि मौलाना आजाद ने मुस्लिमलीग के साथ काँग्रेस के मिले-जुले मन्त्रिमण्डल का सुझाव देकर वहाँ की स्थिति को बिगाड दिया है (पृ० ३०३)। मुस्लिमलीग की पजाब मे अधिक सफलता और यूनियनिस्ट दल की पराजय चिन्ता के विषय थे। इस दृष्टि से काँग्रेस को अपेक्षाकृत अधिक स्थान मिलने से भी पटेल को कोई प्रसन्नता नही थी (पृ० ३०४, ३०७)।

इतिहास एव भारतीय सस्कृति विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर।

पूर्व ऐतिहासिक काल[1] में भारत मे नगर

कृष्णकान्ति गोपाल

मानव सभ्यता के इतिहास मे नगरो की स्थापना विकास की अत्युच्च अवस्था का परिचायक है। नगरो का उद्‌भव सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एव धार्मिक क्षेत्रो मे अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तनो और विकास की परपराओ को अपने मे समेटे रहता है और मानव जीवन के विविध क्षेत्रो मे अनेक नवीन प्रवृत्तियो को जन्म देता है। नगरो की परम्परा के आरभ को उसके महत्त्व के कारण क्रान्ति की सज्ञा दी जाती है।

आज जब इतिहास राजनीतिक घटनाओ के बोझिल और सारहीन विवरण के एकाधिकार से मुक्त होकर जन-जीवन और मानव सभ्यता के विकास के विवरण के रूप मे प्रतिष्ठित हुआ है, शोध के नये-नये दृष्टिकोण सामने आ रहे हैं। ऐसे विषय जिनमे समाज के एक से अधिक तत्त्वो का परस्पर प्रभाव आंका जा सके स्वभाविक ही अधिक उपयोगी होगें। नगरो का इतिहास इसी प्रकार का विषय है जिसमे कई क्षेत्रो की प्रवृत्तियो के अन्योन्य सबध की विवेचना होती है। इस अध्ययन मे अर्थशास्त्रीय इतिहास के विद्यार्थी की स्वाभाविक रुचि है, अर्थशास्त्रीय व्यवस्था मे मूलभूत परिवर्तन और विकास के एक क्रान्तिकारी चरण का यह प्रतीक है। किन्तु इस विषय मे सम्प्रति विद्वानो ने जो रुचि ली है वह अन्तर्शास्त्रीय दृष्टिकोण का परिणाम है। समाजशास्त्र की बढती प्रतिष्ठा के कारण पाश्चात्य देशो मे नगरो के विषय मे अनेक अध्ययन हुए है, इतिहास मे दूसरे शास्त्रो के सहयोग की प्रवृत्ति के फलस्वरूप इतिहास के विद्वानो ने नगरो के इतिहास पर भी शोध किये है। प्रस्तुत ग्र थ भारत के सन्दभ मे ऐसे प्रयास का प्रथम उदाहरण है।

इससे पूर्व प्राचीन भारतीय नगरो के जो अध्ययन हुए वे प्राय एकागी रहे है। बी बी दत्त (टाउन प्लानिंग इन एन्श्येण्ट इण्डिया) ने १९२५ मे प्राचीन भारत मे नगर परियोजना का विश्लेषण किया किन्तु यह केवल साहित्यिक प्रमाण पर आधारित था। अमिता राय (विलेजेस, टाउन्स एण्ड सेक्युलर बिल्डिंग्स इन एन्श्येण्ट इण्डिया) ने नगरो का भी विवेचन किया है, किन्तु उनकी रुचि मुख्यत स्थापत्य और कला से प्रेरित रही है। स्टुअर्ट पिगट (सम एन्श्येण्ट सिटीज ऑफ इण्डिया) ने कुछ नगरो के इतिहास का विस्तार के साथ अध्ययन किया। बैजनाथ पुरी (सिटीज ऑव एन्श्येण्ट इण्डिया) ने और अधिक नगरो के विषय मे विविध सामग्री को प्रस्तुत किया। नगरो के दैनिक जीवन का विश्लेषण कई विद्वानो ने

१ दि सिटि इन अर्ली हिस्टोरिकल इन्डिया लेखक ए० घोष, १९७३ मे इण्डियन इंस्टिट्यूट आफ एडवास स्टडी, शिमला से प्रकाशित, पृ० ९८, मूल्य सत्रह रुपये।

और नोह और पश्चिम मे वैराट के उत्खनन से सिद्ध है। कार्बन-१४ की विधि से इस भाण्ड का समय ८०० से ४०० ई० पू० के बीच आता है, अतरजीखेडा के निचले स्तरो के एक नमूने की तिथि १०२५±१०० ई० पू० सम्प्रति एकाकी है और इसके आधार पर ही आरंभ होने की तिथि १२, ११ या १० वी शताब्दी ई० पू० नही मानी जा सकती। इस मृद्भाण्ड और उत्तरकालीन आर्यो मे भौगोलिक प्रसार और आरंभ होने के काल के विषय मे अद्भुत समानता है। अतएव इस मृद्भाण्ड और इससे सम्बन्धित लोहित (रेड) मृद्भाण्ड को उत्तरकालीन आर्यो का माना जा सकता है। इनसे पूर्व काल के गैरिक वर्णीय (ओकर कलर्ड) मृद्भाण्ड और कृष्ण लोहित (लैक ऐण्ड रेड) मृद्भाण्ड ही कदाचित पूर्वकालीन आर्यों से सम्बन्धित थे।

प्राय कहा जाता है कि लोहे के कारण आर्थिक जीवन मे--कृषि, आवागमन, व्यापार और नागरिक जीवन मे क्रान्तिकारी परिवर्तनो का श्रीगणेश हुआ। गगा के मैदान के वनो को काटने और कृषि के प्रसार के लिये लोहे के उपकरण और कडी भूमि को जोतने के लिये लोहे के काल आवश्यक थे। कालीबगन मे हडप्पीय स्तरो से नीचे कूँड के चिह्नो से प्रतीत होता है कि हडप्पा से पूर्व के लोग जोताई करते थे, इन लोगो के साथ हडप्पा के लोगो के सबध थे अतएव हडप्पा के लोगो को भी इसका ज्ञान रहा होगा। वैदिक आर्य हल से परिचित थे। उत्तर वैदिक काल मे हलो के फाल लोहे के बनने लगे। इसके अतिरिक्त ऐसे हल जिसमे ६ या १२ बैल जुतते थे और ६ या आठ धुरी जिसमे १२ या १६ बैलो की आवश्यकता हो के उल्लेख मिलते हैं। यह स्पष्ट नही है कि ऐसा कडी भूमि को जोतने हेतु लोहे के भारी फालो को खीचने के लिये अथवा धार्मिक कृत्यो के लिये विशेष रूप से पवित्र अन्न उपजाने के लिये होता था। गगा के मैदान को आवास के उपयुक्त बनाने के लिये गहन वनो का सफाया करने मे लोहे के औजार उपयोगी हुए होगे, किन्तु ताँबे-काँसे के औजारो से भी यह कार्य सपन्न हो सकता था, यद्यपि इसमे समय अधिक लगता। यह गलत धारणा है कि लोहे के बिना आर्य गगा के मैदान मे नही बस सके होगे, वनो का सफाया आग के उपयोग से अधिक सरल और शीघ्र हुआ होगा। शतपथ ब्राह्मण मे विदेघ माधव के आख्यान से इस विधि का उपयोग सिद्ध होता है। प्रारंभिक लौह युग मे पी० जी० मृद्भाण्ड का उपयोग करने वाले भौतिक उपकरणो की दृष्टि से समृद्ध नही थे। धीमी गति से परिवर्तित हो रहे समाज मे लोहे का प्रभाव धीरे-धीरे ही दिखाई पडा। लोगो की भौतिक समृद्धि मे कोई उल्लेखनीय वृद्धि नही हुई। किन्तु इसी काल मे राजनीतिक जनपदो की स्थापना हो रही थी। इनमे से कुछ की राजधानियाँ पी० जी० मृद्भाण्ड के सन्दर्भ मे प्रकाश मे आई हैं, किन्तु कोई उपनगर जैसी भी नही थी। ये ग्रामीण निवेशो से भिन्न नही थी, केवल इनका विस्तार अधिक था। इस प्रकार उत्तरी भारत मे लोहे के प्रयोग से ही नगरीय परपरा आरभ नही हो गई।

दक्षिणी भारत मे लोहे का प्रवेश महापाषाण (मेगालिथ्स) बनाने वालो से सबधित हैं। कर्नाटक के हल्लुर स्थान पर नवपाषाण और महापाषाण के मिश्रित चरण से लोहे की प्राप्ति हुई है, इस चरण की कार्बन–14 तिथि 1000 ई पू के लगभग है। यद्यपि यह अकेला उदाहरण है, इससे सभावना होती है कि दक्षिण मे लोहे का प्रवेश स्वतत्र और

पूर्वकालीन है। उत्तर की तुलना मे दक्षिण मे लोहे का अधिक उपयोग होता था। किन्तु महापाषाण सस्कृति के आवास-स्थलो से समृद्धि और नगरीय अभिरुचि का आभास नही होता। ये मूलत कृपको के निवास थे। अशोक ने दक्षिण मे पडोसियो के रूप मे जन-जातियो का उल्लेख किया है, सभवत ई पू तृतीय शताब्दी मे भी इस क्षेत्र मे राज्यो की स्थापना नही हुई थी। महापाषाण सस्कृति से सबन्धित ब्रह्मगिरि और मास्को मे लोहे के औजार और अस्त्रो के अतिरिक्त अन्य उपकरणो का अभाव-सा है। कदाचित् महा-पाषाण सस्कृति के लोगो का कौशल मृतको के स्मारक बनाने मे प्रयुक्त हुआ जीवितो के लिये सुखकर आवास बनाने मे नही। इस प्रकार दक्षिण मे नगरीय विकास का आरम्भ लौह युग के बाद हुआ है।

मध्य-भारत मे और दक्षिणी पठार के ऊपरी भागो मे लोहे का उपयोग प्रारम्भिक ऐति-हासिक सस्कृति के अन्य उपकरणो की भाँति उत्तर से गया था। पूर्वी भारत मे भी माग की कमी अथवा तकनीकी ज्ञान के अभाव के कारण लोहे की समृद्ध खानो का उपयोग नही किया गया।

ई०पू० छठी शताब्दी ने उत्तरी भारत के इतिहास को एक नया मोड दिया। इसे पूर्व ऐतिहासिक काल कहते हैं। इस काल से इतिहास का स्वरूप अस्पष्ट नही रह जाता। कई जनपदो की स्थापना हो चुकी थी, इनकी सीमाए सुस्पष्ट थी। इनमे से कुछ महाजन-पदो के रूप मे भी विकसित हो गये थे। जिनमे कोसल, वत्स, मगध और अवन्ति का स्थान और भी ऊँचा था। नन्दो और मौर्यों के समय मे मगध भारतीय इतिहास का प्रथम साम्राज्य बना। इस काल मे अनेक महत्वपूर्ण भौतिक परिवर्तन भी हुए। एक मुद्रा-प्रणाली प्रतिष्ठित हुई जो सुसगठित व्यापार के विकास मे सहायक हुई, मार्गों की सख्या मे वृद्धि हुई, पकाई हुई ईंटो के कारण भव्य भवन और दुर्गों का निर्माण सभव हुआ और एक नई लेखन-प्रणाली उत्तरी कृष्ण ओपदार (नार्दर्न ब्लैक पालिश्ड—एन०बी०पी०) मृद्भाण्ड है, इसका आविर्भाव ५००ई०पू० के लगभग हुआ था। इसका मूल स्थान गगा के मैदान का मध्य भाग था जहाँ यह अत्यधिक सख्या मे उपलब्ध हुआ है। व्यापार के द्वारा यह तक्षशिला और उज्जैन तक पहुँचा। दक्षिण मे यह कृष्णा नदी पर स्थित अमरावती से प्राप्त हुआ है, यह लम्बी यात्रा मौर्य साम्राज्यवाद के कारण सभव हुई होगी।

नगरो का आविर्भाव इस परिप्रेक्ष्य मे हुआ था। बुद्ध के समय मे छोटे पुर और बडे नगर थे। इनमे से छ चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत, कौशाम्बी और वाराणसी का उल्लेख महानगरो के रूप मे हुआ है, साकेत को छोड कर अन्य महाजनपदो की राजधानिया थी। पालि साहित्य मे ६० पुर और नगरो के नाम आते है, किन्तु इनमे से कुछ की स्थापना अनुवर्ती काल मे हुई थी।

प्रस्तुत अध्ययन की सामग्री मे से साहित्यिक स्रोतो का रचना-काल सुनिश्चित नही है। अतएव प्राप्त सूचनाओ को तिथिक्रम के अनुसार नही प्रस्तुत किया जा सकता। पुरा-तत्व की सामग्री किसी भी साहित्यिक प्रमाण से अधिक विश्वसनीय है, किन्तु इनमे भी कुछ दोष हैं। अधिकाश उत्खनन लम्बीय हुए हैं। कुछ स्थलो के उत्खनन का विस्तृत विवरण प्रकाशित न होने के कारण उसका विधिवत उपयोग नही हो सकता।

दूसरे अध्याय मे भारतीय नगरीय पद्धति को विश्व के परिप्रेक्ष्य मे देखा गया है। इसमे नगरो के विषय मे विशेष रूप से औद्योगीकरण से पूर्व की नगरीय पद्धति से सबधित समाज-शास्त्र का विवेचन किया गया है। नगर की परिभाषाओ से उसकी ये विशेषतायें उभरती है। (१) ग्रामीण क्षेत्रो की तुलना मे अधिक घनी जनसख्या का सीमित क्षेत्र मे रहना (२) कृषि के लिये अत्यल्प भाग का ही उपयोग मे आना (३) प्रधानत अकृपक जनसख्या जो खाद्यान्न और कच्चे माल के लिये ग्रामीण क्षेत्रो पर निभर रहती है और (४) नागरिको की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये व्यापारियो की उपस्थिति। टायन्बी के अनुमार घनी बस्ती ही नगर नही है, इसके निवासियो का यथार्थ अथ मे सामूहिक सामाजिक जीवन होता है जिसके प्रति वे सचेत होते है।

कुछ लेखको के अनुसार नगर कहलाने के लिये किसी भी समाज के पास खाद्यान्न बचत रूप मे होता है। इस बचत का सग्रह एक सीमित वर्ग के हाथ मे होता है, इस प्रकार समाज वर्गो मे विभाजित हो जाता है। ऐसा कहना एक जटिल सामाजिक-आर्थिक क्रिया का सरलीकरण करना हे। प्रश्न है कि बचत के सचय और उसकी आवश्यकता मे से कौन पहले हुआ। साधारणतया कहा जाता है कि बचत की आवश्यकता ने बचत को जन्म दिया, किन्तु बचत को जन्म देने की क्षमता से ही बचत उपस्थित नही हो जाता। इन दोनो से भी अधिक आवश्यक है ऐसा सामाजिक-राजनीतिक सगठन (व्यापारी और राजा) जो कृपको को बचत पैदा करने के लिये बाध्य अथवा प्रेरित करे, उसे आवश्यक स्थान तक पहुँचवाये और यदि समीप मे फसल अच्छी न हो तो दूरस्थ प्रदेशो से अन्न की व्यवस्था करे।

राजा और व्यापारी मे से नगरो की स्थापना के लिये राजा को प्रमुखता दी जाती है, व्यापारी उसका अनुसरण करता है। स्जोबेग (Sjoberg) और मम्फोर्ड (Mumford) ने राजा के महत्त्व की स्थापना तो की है किन्तु राजत्व के पोषक तकनीकी और आर्थिक तत्वो की अवहेलना की है। राजपद एक राजनीतिक सस्था है किन्तु इसकी उत्पत्ति आर्थिक व्यवस्थाओ के विकास पर निभर करती है। अतएव नगरो की स्थापना मे राजपद की पृष्ठभूमि रूप मे तकनीकी और आर्थिक विकास को नही भुलाया जा सकता। व्यापारी स्वयही व्यापार के लिये नगरो की स्थापना और प्रबन्ध कर सकते हैं और सिक्के भी चला सकते हैं, किन्तु इन नगरो मे भी व्यापारिक कार्यों के लिये अपेक्षित शाति और व्यवस्था का उत्तरदायित्व प्रशासनिक अधिकारियो का रहता है। वास्तव मे व्यापारी और राजा दोनो ही नगर मे एक-दूसरे के सहायक होते है।

चाइल्ड (Childe) ने प्राचीनतम नगरो को पूर्वकालीन अथवा समकालीन गाँवो से पृथक् करने के लिये दस स्थूल विशेषतायें प्रस्तुत की है। आलोचक चाइल्ड की सूची को सकीर्ण विशेषताओ का सकलन मानते है। इस सूची मे दो प्रकार की विशेषतायें हैं—मूलभूत महत्त्व की और गौण महत्त्व की हैं। नगरो के आविर्भाव के लिये प्रमुख प्रेरक कारण रहे है नई तकनीक और जीवन-निर्वाह की नई व्यवस्थायें। चाइल्ड की कसौटी को ऐतिहासिक सस्कृतियो के नगरो के लिये लागू करने पर देखते है कि प्रथम विशेषता, नगर की जनसख्या का तुलनात्मक आकार और दबाव, स्पष्ट है और नगर की परिभाषा मे ही

निहित है। शेष बचत के सिद्धान्त पर आधारित हैं। इन विशेषताओ की दृष्टि से प्रारंभिक ऐतिहासिक काल के आरभ से पूर्व गगा के मैदान मे नगरो की स्थापना की प्रागावश्यकतायें उपस्थित थी। बचत के उत्पादन की क्षमता और उसके उपयोग के लिये आवश्यक व्यवस्था भी थी–जनपदो के राजा थे जिनके साथ दरबार और अधिकारी थे और साथ ही व्यापारी वर्ग था जिसका आविर्भाव उद्योगो मे श्रमविभाजन और कौशल के कारण आत्म-निर्भर आर्थिक व्यवस्था के भग हो जाने से हुआ था। चौथी विशेषता भव्य भवनो की है। अन्य सस्कृतियो मे यह मन्दिर और धार्मिक निर्माण के रूप मे मिलती हैं। किन्तु विवेच्य-कालीन उत्तर भारत मे धर्म मे किसी निर्माण की अपेक्षा नही थी, केवल बौद्धधर्म मे स्तूपो का चलन था। बृहदाकार स्तूप अशोक से पूर्व नही थे और मन्दिर तो और भी बाद के हैं। इस काल का कोई राजप्रासाद नही मिला है, फिर भी स्पष्ट है कि राजपरिवार और अधि-कारियो के आवास आकार मे भिन्न रहे होगे, किन्तु कदाचित लकडी आदि से निर्मित होने के कारण अवशिष्ट नही है। पाँचवी विशेषता प्रशासक वर्ग का अभ्युदय है। इसका प्रमाण साहित्य मे प्राप्त होता है। उत्तर वैदिक काल मे हम राजत्व, राजा की शक्ति और योद्धाओ सहित सामन्तवर्ग की वृद्धि देखते हैं, इन्ही के साथ मन्त्री, शिक्षक, पुरोहित और ज्योतिषी के रूप मे ब्राह्मणो की भी गणना की जा सकती है। छठी विशेषता लिपि को सभ्यता और नगरीय जीवन की अपरिहार्य विशेषता नही माना जाता, किन्तु भारतीय सदभ मे यह चरिताथ होती है। ब्राह्मी और खरोष्ठी की उत्पत्ति कब हुई, यह ज्ञात नही है, तथापि अशोक के समय मे इनके प्रचलन के आधार पर कुछ समय पूव इनकी उत्पत्ति रखी जा सकती है। कदाचित राजकीय प्रपत्रो को सुरक्षित रखने जैसे किसी व्यावहारिक उद्देश्य से इनकी उत्पत्ति हुई थी, किन्तु इसे सिद्ध नही किया जा सकता। सातवी विशेषता अकगणित, रेखागणित और खगोल विद्या का भारत मे विकास धार्मिक कृत्यो के लिये हुआ था। नगरीय प्रवृत्ति से यह कहा तक सबधित था, यह ज्ञात नही है, यद्यपि कमकाण्डो से सबधित उत्तर वैदिक साहित्य के एक बडे वश की रचना राजकीय सरक्षण मे हुई थी। आठवी विशेषता कला के क्षेत्र मे नई चेतना है किन्तु भारत मे यह नही देखने को मिलती। मौर्यों से पूर्व मूर्तिकला का कोई निश्चित उदाहरण नही है। विदेशो के साथ समृद्ध व्यापार नवी विशेषता है। भारत मे इसका कोई प्रमाण नही है, किन्तु अन्तर्देशीय व्यापार समुन्नत था, बुद्ध के समय मे भी विभिन्न प्रदेशो को मिलाने वाले मार्गों का जाल-सा था। समुद्री व्यापार का कालान्तर मे विकास हुआ और रोमन काल मे इसका चरमोत्कर्ष हुआ। दसवी विशेषता नगर के निवासियो मे सामुदायिक भावना है। भारत मे यह अनिश्चित और असभाव्य प्रतीत होती है। कदाचित् जाति-व्यवस्था, जनसख्या के विभिन्न तत्त्व और [illegible] की विविधता के कारण ऐसा नही हो सका। इसके कुछ अपवाद [illegible]

पाली साहित्य मे वैशाली के सन्थागार का विवरण, किन्तु [illegible]

विवरण था।

नगर मे भूमि के उपयोग के रूप मे परिस्थिति-[illegible]

अत्यधिक चर्चा की गई है। इसका १६२५ मे प्रति।

हुआ है, किन्तु इसका समकेन्द्रीय मण्डलो (कॉन्सेण्ट्रिक जोन्स) का मूल-भूत सिद्धान्त अपरिवर्तित रहा है। यह शिकागो नगर के रूप पर आधारित था। अमेरिका के ही नगरो के विषय मे इसको लागू करने पर आलोचनायें हुई है। अतएव प्राचीन भारत के नगरो के विषय मे इसकी और भी आवश्यकता नही है। फिर, इन प्राचीन नगरो के अभिन्यास जानने का कोई प्रमाण नही है। पूर्व ऐतिहासिक काल के नगर परिस्थिति-विज्ञान की दृष्टि से एकत्रित थे, ऐसा गगा के मैदान की परिस्थितियो के कारण हुआ। इनकी परिस्थिति पूर्व सैन्धव नगरो अथवा तक्षशिला अथवा उज्जैन की परिस्थितियो से भिन्न थी क्योकि ये दूसरे परिस्थिति-मण्डल मे स्थित थे। स्जोबर्ग के अनुसार औद्योगीकरण मे पूर्व के नगरो मे भूमि के उपयोग के तीन रूप उन्हे औद्योगिक नगरो मे भिन्न बनाते हैं (१) केन्द्र भाग की सीमान्त प्रदेशो की तुलना मे प्रमुखता जो विभिन्न क्षेत्रो मे सामाजिक वर्गों के विभाजन मे परिलक्षित होती है (२) प्रजाति, व्यवसाय और कुल सबध के आधार पर कुछ सूक्ष्म स्थान सबधी अन्तर और (३) भूमि-उपयोग के अन्य रूपो मे कार्य-सबधी विभेदीकरण का निम्न विस्तार।

सस्कृति के प्राचीन चारो केन्द्रो—सुमेर, मिस्र, सिन्धु-घाटी और चीन—मे नगरीय प्रवृत्ति की स्वतत्र उत्पत्ति थी। कारणो और विशेषताओं मे स्थूल समानताओ के होने पर भी प्रत्येक के नगरो की अपनी निजी विशेषतायें थी।

तीसरे अध्याय मे निवेश की विवेचना है। इस काल मे निवेशो की इकाई के लिये जनपद शब्द मिलता है जो भौगोलिक क्षेत्र और ग्रामीण प्रदेश दोनो ही अर्थो मे प्रयुक्त होता था। कौटिल्य का कथन है कि नये अथवा विद्यमान जनपद मे दूसरे प्रदेशो से आने वालो अथवा अपने ही राज्य की अधिक जनसख्या को बसाना चाहिये। उत्तर वैदिक काल मे शासक जन-जातियो ने सिन्धु गगा के मैदान में विजय के अतिरिक्त इसी विधि के द्वारा जनपदो की स्थापना कर उन्हे अपना नाम दिया। पाणिनि से ज्ञात होता है कि क्षत्रिय जन-जातियो के नाम उनके जनपदो के नाम भी थे, इन नामो मे अञ् प्रत्यय लगाने से उन क्षत्रियो के वशजो का बोध होता है, यथा—पचाल जन-जाति और जनपद दोनो का नाम हैं, किन्तु पाचाल से इस जनजाति के वशज का बोध होता है। पतजलि के अनुसार क्षौद्रक्य और मालव्य शब्दो से क्षुद्रको और मालवो के वशजो का ही बोध होता है, उनके भृतको और कर्मकारो का नही। इसके यह अर्थ नही है कि जनपद की जनसख्या का एक बहुसख्यक वर्ग राज्य की दृष्टि से अस्तित्वहीन था, किन्तु जनपद का नाम इनका नाम अथवा नामान्त नही हो सकता था। इससे प्रारभ मे जनपदो मे उनके सस्थापको के विशिष्ट स्थान का कुछ आभास होता है। शतपथ ब्राह्मण मे कथा है कि अग्नि ने सरस्वती (पूर्वी पजाब मे) से सदानीरा (पश्चिमी बिहार मे गण्डक) तक के प्रदेश को जलाया और विदेघ-माथव ने अपने पुरोहित गोतम-राहूगण के साथ उसका अनुसरण किया। यह गगा के मैदान के उत्तरी भाग मे आर्यों के प्रसार की स्मृति मानी गई है, किन्तु इससे यह नही सूचित होता कि पूर्व की ओर प्रसार मे आर्य हिमालय की तराई के मार्ग से बढे थे अथवा पूर्व मे उनका प्राचीनतम आवास विदेह मे था।

ई०पू० प्रथम सहस्राब्द के पूर्वार्द्ध मे जनपदो की स्थापना ने महत्त्वपूर्ण सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तनो को जन्म दिया। अपना जनजातीय स्वरूप त्याग कर लोग नये प्रदेशो मे बस गये, व्यवसाय की विविधता और कार्य-कौशल से जाति-व्यवस्था के रूढ होने की प्रवृत्ति चली, कार्य-कौशल से ही अन्तर्देशीय व्यापार बढा जिससे आगे विदेशी व्यापार का विकास हुआ। शासक वर्ग की प्रतिष्ठा और व्यापारी वर्ग की समृद्धि के कारण नगरीय प्रवृत्ति का उदय हुआ।

इनमे से कुछ जनपद ई पू छठी शताब्दी के महाजनपदो के रूप मे विकसित हुए। शक्तिशाली जनपदो के द्वारा अशक्त जनपदो को आत्मसात करने से ऐसा हुआ। प्रारम्भ मे प्रत्येक जनपद मे एक ही नगर (राजधानी) था किन्तु महाजनपदो मे एक से अधिक नगर थे। दो-तीन शताब्दियो मे कुछ जनपदो का क्षत्रिय-सम्बन्ध समाप्त हुआ और क्षत्रियेतर शासक प्रतिष्ठित हुए। जनपद का अर्थ बदल कर ऐसा प्रदेश जिसकी सीमाए स्पष्ट निर्धारित न हो, अथवा ग्रामीण प्रदेश हो गया। पाली साहित्य के १६ महाजनपद पश्चिमोत्तर पाकिस्तान से पूर्वी बिहार तक और हिमालय की तराई से गोदावरी तक फैले हुए थे। किन्तु १६ की सख्या पारम्परिक थी और भौगोलिक विस्तार मे अन्तर के साथ नामावली मे परिवर्तन किये गये।

जनपद के अन्तर्गत अनेक प्रकार के निवेश थे। पतजलि ने ग्राम, घोष, नगर और सवाह को आर्य-निवास के उपयुक्त कहा है। इनमे से मूल इकाई ग्राम थी। कौटिल्य के अनुसार ग्राम की जनसख्या मुख्यत शुद्रकृषको की होनी चाहिये। यह सुझाव व्यावहारिक था क्योकि गाँव और नगर की अनुत्पादक जनसख्या को कृषक ही जीवित रखता है। कुछ विशेष प्रकार के गाँव थे, यथा शिल्पियो, व्यापारियो और व्यवसायो, ब्राह्मण और चण्डाल आदि जातियो के नाम वाले गाँव। इन गावो मे केवल यही लोग नही थे, वे जनसख्या मे मुख्य तत्त्व थे। गाँव विभिन्न विस्तार के थे। कौटिल्य के अनुसार गाँव मे 100 से 500 कुल होने चाहिये, किन्तु जातको मे 30 से 1000 कुल के गाँवो का उल्लेख है। ग्राम का प्रमुख व्यवसाय कृषि था। उपर्निर्दिष्ट विशिष्ट प्रकार के गाँवो के निवासी भी अपना समय अपने उद्यम और कृषि मे बाँटते थे। पशुपालको की विशिष्ट बस्ती घोष कहलाती थी। पाली साहित्य मे उल्लिखित निषादिनिर्दिष्टग्राम घोष ही थे। सवाह कदाचित निगम का समानार्थक था।

रेडफील्ड (Redfield) के नगर-ग्राम-निरन्तरता के सिद्धात के अनुसार जनजातीय ग्राम, कृषक ग्रामपुर और नगर सामाजिक, आर्थिक और सास्कृतिक विशेषताओ की दृष्टि से एक क्रम मे है। इनमे पारपरिक सस्कृति का ह्रास और व्यक्तित्व मे विकास क्रमिक रूप मे मिलता है। किन्तु ऐसा अध्ययन विद्यमान जनसमुदायो के विषय मे ही सभव है, अतीत-कालीन समुदायो के सम्बन्ध मे इनके निष्कर्ष-सदिग्ध ही रहेगे। फिर भी यह अनुमान किया जा सकता है कि प्राचीन भारतीय निवेशो के रूपो मे इनके कुछ तत्त्व उपस्थित थे। इसी प्रकार निवेशो की प्रादेशिक स्थिति के विषयो मे रेडफील्ड के सुझाव आशिक रूप से ही लागू होते है।

अधिक उपयुक्त होगा कि वर्तमान काल मे प्रयुक्त शब्दावली पुरवा (hamlet) गाँव कस्बा (town), व्यापारिक (market town) अथवा औद्योगिक कस्बा (industrial town) और शहर (City) से तुलना की जाय। हम देखते हैं कि गाँव प्रमुख इकाई रहे हैं यद्यपि घोष या पुरवा जैसी छोटी इकाइयाँ भी रही हैं। गाँव की तुलना मे कस्बे मे अधिक जन (मुख्यत कृषकेतर) और घनी आबादी होती है। पतजलि का कथन है कि पुर (कस्बे) और ग्राम के बीच अन्तर की निरर्थक विवेचना नही करनी चाहिये, किन्तु इससे यह नही ध्वनित होता कि पुर गाँव का एक वृहत और अधिक समृद्ध रूप मात्र था। दोनो के राजनीतिक और आर्थिक कार्य भिन्न-भिन्न थे। प्राचीन पुर और नगर का अन्तर स्पष्ट करना सभव नही है। आधुनिक काल मे नगर के लिये जनसख्या के मनमाने निर्धारण से स्पष्ट है कि यह कस्बे का बृहत् रूप है। प्राचीनकाल मे बडे नगर अथवा पुर के साथ ही द्रोणमुख, खार्वटिक, सग्रहण आदि शाखानगर नाम की छोटी इकाइयाँ भी थी। आधुनिक व्यापारिक नगर प्राचीन निगम और पुरभेदन के स्थान पर है। इस प्रकार निवेशो का रूप चला आया है, यद्यपि औद्योगीकरण के कारण इसमे कुछ परिवर्तन हुए है।

चौथे अध्याय मे साहित्यिक उल्लेखो के आधार पर प्राचीन नगरो का वर्णन है। महाकाव्यो और पुराणो की परम्पराओ मे कई नगरो के निर्माण का श्रेय किन्ही राजाओ को दिया गया है जिनके नाम पर नगरो का नाम भी प्राय पडा है। यद्यपि कुछ विद्वानो ने इनका समर्थन किया है, ये आख्यान ऐतिहासिक नही है, परम्पराओ मे ही परस्पर भेद मिलता है। इनसे केवल इतना ही ज्ञान होता है कि उस काल मे लोग नगरो की स्थापना राजाओ के द्वारा मनाते थे और नगरीय प्रवृत्ति के सहायक अन्य तत्त्व उपेक्षित थे।

साहित्य मे कई प्रकार के नगर निवेशो के उल्लेख है यद्यपि इनका अन्तर स्पष्ट नही है। अमरकोष मे समानार्थक शब्दो के रूप मे पुर, पुरी, नगरी, पत्तन पुटभेदन, स्थानीय और निगम का उल्लेख है और शाखानगर को मूल नगर से भिन्न पुर कहा गया है। कुछ अन्य शब्द भी थे, यथा, कौटिल्य के अनुसार 800 गाँवो के बीच एक स्थानीय होता था, दुर्ग के अभाव मे यही का राजा आवास और कोष रहते थे, और 400 गाँवो के बीच द्रोणमुख, 200 के बीच खार्वटिक और 10 के बीच सग्रहण होते थे। गाँवो की ये सख्यायें काल्पनिक होने पर भी विभिन्न नगरीय निवेशो का तुलनात्मक महत्त्व सूचित करती है। कौटिल्य से ज्ञात होता है कि वास्तविक राजधानी दुर्ग थे, ये मध्यकालीन घिरे हुए नगरो की भाँति नगर थे। कालान्तर मे समुद्रतट पर बन्दरगाहो की स्थापना हुई। प्रारम्भ मे विदेशी व्यापार का कोई प्रमाण नही मिलता, किन्तु प्रथम शताब्दी मे रोमन व्यापार के आरम्भ से पूर्व ही कुछ बन्दरगाहो की स्थापना हो गई थी। पाली साहित्य मे पश्चिमी तट पर रोचक शूर्पारक और भरुकच्छ के उल्लेख है, दक्षिण मे कावेरी पट्टन के उल्लेख कम है, पूर्व मे ताम्रलिप्ति का विकास और बाद मे हुआ था। सभी प्रकार के नगरीय निवेश मूलत कृषिपरक नही थे। प्रारम्भ मे केवल नगर और निगम के ही उल्लेख है जिससे प्रतीत होता है कि अन्य प्रकार बाद मे विकसित हुए थे।

साहित्य मे किसी नगर का वास्तविक विवरण नही मिलता। उपलब्ध विवरण पारंपरिक है जिनमे एक जैसी बात कही गई है। जैन-ग्रथो मे तो नगरो का एक निश्चित वर्णन हैं, कभी कभी वे इनसे भी नही देते, नगर के नाम के आगे वर्णक शब्द जोडकर काम चला लेते है। अनुवर्ती काल के अभिलेख भी सहायक नही है, यथा मन्दसौर के अभिलेख मे दशपुर का वर्णन पारम्परिक ही है।

फिर भी, पारपरिक वर्णनो से प्रारंभिक नगरो की कुछ विशेषताए उभरती है—परिखा (खाई) मीनार और फाटक युक्त प्राचीर। खाई से निकली मिट्टी आदि से ही प्राचीर बन जाती थी। फाटक प्राय चार होते थे–प्रत्येक दिशा मे एक, कही-कही अधिक फाटको का भी उल्लेख है। पाणिनि से ज्ञात होता है कि फाटक जिस स्थान की ओर खुलते थे उसके नाम के अनुसार वे अभिहित होते थे। नगर को ४ अथवा ६ वर्गों मे बाँटने का विधान था किन्तु उत्खनन से इसका समर्थन नही होता। सडके विभिन्न चौडाई की होती थी, किन्तु विभिन्न प्रकार की सडको का अन्तर स्पष्ट नही है। सडको के नाम भी गन्तव्य स्थान के आधार पर होते थे। व्यस्त बाजार का प्राय उल्लेख आता है। कुछ सडके विशिष्ट व्यवसाय अथवा उद्योग के लिये ही होती थी। बहुत-सा व्यापार नगर के फाटक के बाहर होता था जहा गाँव के लोग अपना सामान लाते थे। फाटक के पास ही दरिद्र और चण्डाल आदि रहते थे। जो नगर प्रशासन के केन्द्र थे वहा राजप्रासाद, दरबार और कार्यालय प्रमुख भवनो म से होते थे। नगरो का विस्तार प्राय बढा कर दिया गया है, यथा अयोध्या को १२ योजन लम्बा और ३ योजन चौडा, वाराणसी को १२ और मिथिला और इन्द्रप्रस्थ को तीन योजन का कहा गया है।

नगरो के शासन-प्रबन्ध के विषय मे बहुत कम ज्ञान है। कौटिल्य ने नागरक और मनु ने सर्वार्थचिन्तक का विधान किया है। मेगास्थनीज के विवरण मे पाटलिपुत्र की ५-५ सदस्यो वाली ६ समितियो के उल्लेख का समथन किसी साहित्यिक प्रमाण अथवा अशोक के अभिलेखो से नही होता, सभवत यह मेगास्थनीज के कुछ अन्य विवरणो की भाँति तथ्य पर आधारित नही था।

नगर और देश के अन्य भागो मे वैमनस्य शाश्वत जैसा है। नगरो के प्रति स्मृतिकारो का विरोध स्पष्ट है। स्मृति मूलत कर्मकाण्डपरक है, इसके लिये अपेक्षित दृढ सगोत्रता के सबध नगरो मे सभव नही है। इसके विपरीत जो ब्राह्मण मत्री, पुरोहित, ज्योतिषी आदि रूपो मे राजदरबार मे रहते थे वे सजातीय ग्रामीण लोगो की भाँति सभी बधनो का निर्वाह नही करते थे। यह विरोध बौद्ध और जैन ग्रन्थो मे नही परिलक्षित होता। बुद्ध और महावीर दोनो समान रूप मे नगर और ग्राम जाते थे और वहा के निवासियो को अपने धर्म मे स्वीकार करते थे। नगर के समीप के गाँवो मे ऐसे शिल्पी रहते थे जिनके माल की खपत नगर मे होती थी, किन्तु उनके व्यवसाय के लिये अपेक्षित विस्तृत भूभाग नगरो मे सभव नही थे। प्रत्येक नगर के अपने उपनगर होते थे जो कभी-कभी बडे विस्तृत होते थे, यथा, राजगृह का उपनगर नालन्दा १० किलोमीटर का था। नगर के साथ ग्रामवासियो के सपर्क के बहुत कम अवसर थे–नगर के बाजार को अन्नादि और कच्चा माल

(कभी किसी माध्यम के द्वारा) देना और राज्य से प्राप्त सुरक्षा के लिये उनको कर देना। अनुवर्ती साहित्य मे ग्रामीण जनता के अज्ञान एव असस्कारो के अनेक उल्लेख हैं, ग्राम्य शब्द ही अशिष्ट का बोधक हो गया। नगर के लोगो का दृष्टिकोण उपहास, अपमान और विरोध का था। नगर के प्रति ब्राह्मण धर्म का विरोध धीरे धीरे क्षीण होता गया।

राजधानी मे नगर और ग्राम दोनो की जनता औपचारिक और उत्सव के अवसरो पर एकत्रित होती थी। महाकाव्यो मे पौरजानपद शब्द इन्ही के लिये आया है, किन्तु इस जनसमूह का कोई प्रतिनिधि रूप नही था और कोई भी निर्णय करने का इन्हे अधिकार नही था। नगरवासियो के दैनिक जीवन का अधिक ज्ञान नही है। नगर की समृद्धि ने ऐसे वर्ग को जन्म दिया जिसे साहित्य, सगीत और कला का ज्ञान हो और उसे सरक्षण दे सके। वात्स्यायन ने इन्हे नागरक कहा है, किन्तु यह वर्ग बाद मे विकसित हुआ था। समाज का उल्लेख साहित्य और अशोक के अभिलेखो मे मिलता है, ये प्राचीन काल मे चले आये हैं।

शिक्षा के केन्द्र के रूप मे नगरो की प्रतिष्ठा प्रमाणित नही होती। पारपरिक शिक्षा गांवो मे और बौद्ध और जैन-विहारो मे पल्लवित हुई। नगरो मे धर्मेतर शिक्षा की व्यवस्था रही होगी। जातको के अनुसार तक्षशिला के शिक्षको के पास देश के विभिन्न भागो से ब्राह्मण और क्षत्रिय युवक आते थे। किन्तु अन्य प्रमाणो से इनका समर्थन नहीं होता, ये उल्लेख रूढिग्रस्त प्रतीत होते है। तक्षशिला का भारतीय बौद्धिक एव सास्कृतिक जीवन पर कोई प्रभाव नही हो सकता था।

प्राचीन नगरो मे पवित्र और धार्मिक स्थल अवश्य रहे होगे, किन्तु श्रमणेतर धर्मो के तीर्थ के रूप मे कोई भी प्रतिष्ठित नही हुआ, यह प्रवृत्ति अनुवर्तीकाल मे विकसित हुई थी।

पाँचवें अध्याय मे पुरातत्व के साक्ष्य का विवेचन है। प्राचीन भारतीय नगरो का उद्भव उन कृषक ग्रामो से हुआ था जो लोह युग मे पहुँच गये थे। किन्तु ग्रामीण से नगरीय अर्थव्यवस्था मे विकास के क्रमिक चरणो का निरूपण पुरातत्व के द्वारा नही हो पाता। पी०जी० और एन० बी०पी० भाण्डो के अनेक स्थलो पर हुए उत्खनन लम्बीय होने के कारण इन सस्कृतियो का पूरा परिचय नही देते। लेखक ने इनमे सबद्ध सामग्री के विश्लेषण मे मूर्तिकला की चर्चा नही की है क्योकि आरंभिक पत्थर की मूर्तियो की तिथि पुरातात्विक प्रमाणो के आधार पर निर्धारित नही हुई है।

समान्तर-उत्खनन के अभाव मे दोनो काल के आवासीय क्षेत्रो के विस्तार की तुलना सभव नही है। किन्तु सारजीखेडा के उत्खनन से ज्ञात होता है कि कदाचित नगरीय विकास के कारण बढी जनसख्या के लिये एन०बी०पी० भाण्ड काल मे आवासीय क्षेत्र मे वृद्धि की गई। गगा की घाटी मे नगरो की परियोजना का कोई भी प्रमाण नही है। पश्चिमोत्तर भारत मे भीर टीला (तक्षशिला) मे केवल प्रथम भाग के विषय मे कुछ सावधानी बरती गई है। सिरकप (तक्षशिला) मे पूर्ण परियोजना है, उत्तरी फाटक से एक सडक नगर के बीच से जाती है जिससे छोटी सडके और गलियाँ समकोण बनाते हुए मिलती है और मकान भी सुनिश्चित प्रकार के है। किन्तु सिरकप विदेशी उत्पत्ति का है, अत भारतीय नगरो का

प्रतिनिधित्व नही कर सकता। दूसरा ज्ञात परियोजित नगर उडीसा का शिशुपालगढ है। चारो दिशाओ मे दीवाल मे दो-दो फाटको से प्रतीत होता है कि नगर जाल रूप मे निर्मित था। कौशाम्बी और अहिच्छत्रा मे एक-एक सडक मिली है जो कई शताब्दियो तक उपयोग मे रही और पुनर्निर्मित होती रही।

कौशाम्बी मे ६½ किलोमीटर के घेरे मे बृहत् प्राचीर मिली है। इसका समय बहुत पीछे ढकेल दिया गया है, एन०बी०पी० भाण्ड से कुछ पूर्व इसका निर्माण सभव प्रतीत होता है। एरण, उज्जैन और राजघाट (वाराणसी) मे भी प्राचीर मिली है, किन्तु इनके विस्तृत विवरण प्रकाशित नही हैं। एरण मे ताम्राश्म (Chalcolithic) स्तर पर ही प्राचीर मिली है, अत यहाँ एक पशुपालक समाज के सभ्यता की कोटि मे प्रवेश का अध्ययन हो सकता है। सूक्ष्म विश्लेषण के आधार पर इस प्राचीर का समय ऐतिहासिक काल के समीप निर्धारित होने की भी सभावना है। उज्जैन मे खाई और लम्बाई और चौडाई मे १ किलोमीटर से अधिक मिट्टी की प्राचीर है। सभी तथ्यो को देखते हुए इसका निर्माण ६०० ई० पू० के लगभग रखा जा सकता है। राजघाट मे मिट्टी की बृहदाकार प्राचीर का भी यही निर्माण काल स्वीकार करना चाहिये। इस प्रकार एरण को छोड कर शेष तीनो स्थल (कौशाम्बी, उज्जैन और राजघाट) मे प्राचीर एन०बी०पी० भाण्ड के आरभ से कुछ पूर्व की है, भाण्ड का समय ५०० ई०पू० के लगभग स्वीकार करने पर प्राचीर का समय ६०० ई० पू० उचित प्रतीत होता है। राजगिरी मे मिट्टी की प्राचीर इस भाण्ड से और बुद्ध के समय मे नगर की स्थापना से बहुत बाद की है। श्रावस्ती मे प्रथम काल मे कोई प्राचीर नही है, द्वितीय काल (२७५-२०० ई०पू०) मे मिट्टी की एक दीवाल लगभग ५ किलोमीटर के घेरे मे निर्मित हुई जिसके ऊपर बाद मे पक्की ईंटो की दीवाल बनी। श्रावस्ती से ६० किलोमीटर पूर्व तिलौराकोट का प्रमाण भी तुलनीय है। अहिच्छत्रा मे मिट्टी की प्राचीर के निर्माण का पहला चरण नगर की उत्पत्ति का समकालीन नही है, अपितु २०० ई०पू० के बाद का है जब यह पचालो की राजधानी बनी, नये उत्खनन से नगर के दूसरे भाग मे प्राचीर कुषाणकालीन प्रतीत होती है। वैशाली की तीन दीवारो मे प्राचीनतम ईंटो की बनी और ई०पू० दूसरी शताब्दी की है। शिशुपालगढ मे भी द्वितीय काल (२००-१०० ई०पू०) के प्रारभ मे ही मिट्टी की बृहदाकार प्राचीर बनी। इस प्रकार प्राचीन ऐतिहासिक काल मे प्राचीर के निर्माण के दो स्पष्ट काल हैं—(१) ६०० ई०पू० के लगभग और (२) २०० १०० ई०पू० जब मौर्य साम्राज्य के पतन पर स्थानीय राजवशो का उदय हुआ। सभी नगरो की स्थापना के साथ प्राचीर का निर्माण नही हुआ था। ईसा पूर्व पाँचवी से तीसरी शताब्दी मे मगध की केन्द्रित शक्ति के कारण स्थानीय सुरक्षा की आवश्यकता नही थी। हस्तिनापुर आदि नगर जो राजधानी नही थे बिना किसी सुरक्षा विधि के थे। प्राचीर से नगर का महत्त्व बढ जाता था, वह मूल नगर का पद प्राप्त करता था।

प्राचीन नगरो मे बृहदाकार निर्माण के उदाहरण बहुत कम है। भीर टीला (तक्षशिला) मे स्तम्भ युक्त कक्ष के सहित भवन और एक अर्धवृत्ताकार निर्माण मिला है, किन्तु इनका उपयोग अज्ञात है। सिरकप के निर्माण इण्डो-पार्थियन और कुषाण-कालो के है।

कौशाम्बी मे एक राजप्रासाद मिला है, इसके निर्माण का पहला चरण एन०बी०पी० भाण्ड से पूर्व का कहा गया है, किन्तु यह तिथि सन्दिग्ध है। यहा घोषिताराम स्तूप के साथ विहार भी मिलता है। स्तूप मूलत ई०पू० पाँचवी शताब्दी मे बना था जिसमे आगे की शताब्दियो मे वृद्धि हुई। राजगिर मे अडाकार निर्माण के अवशेष मिले हैं जो कदाचित बौद्ध विहारो के आदि रूप थे, किन्तु इनकी तिथि अनिश्चित है। राजगिर मे कुछ अवशेष प्राप्त हुए हैं जो अजातशत्रु द्वारा निर्मित स्तूप के कहे जाते हैं। प्राचीन नगरो मे अन्य किसी उल्लेखनीय निर्माण का प्रमाण नही मिलता। बुद्ध की मृत्यु के समय से ही उनसे सबन्धित जो निर्माण हुए वे नगरो से सबधित नही थे। अत कोई प्राचीन नगर किसी धार्मिक निर्माण के कारण स्थापित नही प्रतीत होता। इनके उल्लेखनीय निर्माण के अभाव की व्याख्या इस प्रकार हो सकती है—पक्की ईटो का प्रयोग एन बी पी भाण्ड के उद्भव के काफी बाद का है, इसका साधारण प्रयोग ई पू दूसरी शताब्दी से मिलता है और प्रभूत प्रयोग और भी बाद का है। कुछ निर्माण लकडी के थे, जिनका कोई चिह्न नही मिलता, किन्तु लकडी का अधिक उपयोग सभाव्य नही लगता, क्योकि उनको जोडने वाले धातु के कील-काँटे आदि उपलब्ध नही होते। तक्षशिला आदि स्थानो पर पत्थर के निर्माण हुए होगे, अन्यत्र जहा पत्थर सुलभ नही थे मिट्टी और कच्ची ईटो का प्रयोग होता था।

यद्यपि सार्वजनिक सफाई व्यवस्था का प्रमाण नही मिलता, निजी घरो मे इसके आन्तरिक प्रबन्ध का परिचय मिलता है। भीर टीले पर मलादि को निजी शोषक-कूप (सोक–वेल) मे डालने की व्यवस्था थी। उत्तरी भारत मे प्राय सभी स्थलो से एन बी पी भाण्ड स्तर से वलय-कूप (रिंग वेल) प्राप्त हुए है जो सभवत प्रारभिक ऐतिहासिक काल की देन थे। कभी-कभी ये कमरो के भीतर भी मिले हैं और कदाचित निजी शौच के लिये भी प्रयुक्त होते थे। इससे प्रतीत होता है कि नगर के आवासीय क्षेत्रो मे खुले मैदान की कमी थी।

१९४० से १९५९ तक हुए उत्खनन मे किसी भी स्थल पर सिक्के पी० जी० भाण्ड के स्तर पर नही किन्तु अधिकाश स्थलो पर एन०बी०पी० भाण्ड के साथ मिले हैं। अत सिक्के प्रारभिक ऐतिहासिक काल की विशेषता हैं और व्यापार के विकास के कारण उत्पन्न हुए थे। ४०० ई०पू० मे सिक्को का उत्तरी भारत मे प्रचार था, सीमावर्ती क्षेत्रो मे सिक्को का प्रवेश कुछ बाद मे हुआ था। उत्खनन से ढले हुए ताम्रसिक्के और पचाहत सिक्के साथ साथ मिलते हैं, अतएव पचाहत सिक्को को पहले रखने का कोई औचित्य नही है।

छठे अध्याय मे प्रारभिक ऐतिहासिक काल की नगरीय प्रवृत्ति की उत्पत्ति की विवेचना है। एक सभावना है कि यहा हडप्पा की परपरा की निरन्तरता अथवा पुनरावृत्ति है। इस सभावना के पक्ष मे गुजरात मे उत्तरकालीन हडप्पा सस्कृति के निवेशो का उल्लेख होता है। रगपुर, मध्य भारत और ऊपरी महाराष्ट्र के उद्भासित लोहित (लस्टरस रेड) भाण्ड को हडप्पा के भाण्ड से उत्पन्न माना जाता है। किन्तु प्रश्न यह नही है कि रगपुर का तृतीय काल हडप्पा से उत्पन्न है, विवेच्य प्रश्न यह है कि क्या हडप्पा की नगरीय परपरा रगपुर के माध्यम से प्रारभिक ऐतिहासिक काल मे नगरीय प्रवृत्ति की प्रेरक थी। पहले,

रगपुर के द्वितीय 'स' और तृतीय कालो का हडप्पा से सीधा विकास सिद्ध नही हुआ है। यह भी सिद्ध नही है कि रगपुर के इन कालो से होकर हडप्पा की नगरीय परपरा मालवा और ऊपरी महाराष्ट्र की ग्रामीण ताम्राश्म सस्कृतियो मे फैली। इन प्रदेशा का ताम्राश्म सस्कृतियो और ऐतिहासिक काल के आरभ मे ७ से ९ सौ वर्षो की अन्तर है (एरण के उत्खनन का प्रमाण अपवाद जैसा प्रतीत होता है, एरण मे यह अन्तर बहुत कम है। किन्तु एरण की कार्बन-१४ तिथियो मे परस्पर विरोध के कारण उनके आधार पर तिथिक्रम का निर्धारण उचित नहीं होगा)। उत्तरी भारत मे नगरो की स्थापना इन सस्कृतियो के ऐतिहासिक काल से भी पूर्व ६०० ई० पू० के लगभग होती है। अतएव उत्तरी भारत की नगरीय प्रवृत्ति का रगपुर के माध्यम से हडप्पा से प्रभावित होना सभव नही है।

हडप्पा की सास्कृतिक परपरा के सातत्य के प्रमाण के रूप मे दक्षिण की नव पाषाण कालीन सस्कृति पर उसके प्रभाव का उल्लेख होता है। इसके समर्थन मे पहला तर्क यह है कि इन नव पाषाणकालीन लोगो ने हडप्पा से लाल मृद्भाण्डो पर काले रग से चित्रण करने की विधि अपनाई। किन्तु यह प्रमाण अपर्याप्त है, दोनो सस्कृतियो के चित्रो मे कोई साम्य नही है और नवपाषाण सस्कृति मे कुम्हार का चाक अज्ञात था जबकि हडप्पा मे इसका प्रयोग होता था। दूसरा तर्क यह है कि दोनो ही सस्कृतियो मे समानान्तर छोर वाले फलको (पैरलल साइडेड ब्लेड्स) का प्रयोग होता था। किन्तु यह विधि बहुत प्रचलित है, अतएव इसके आधार पर दोनो सस्कृतियो का सम्बन्ध सिद्ध नही होता, नवपाषाण-कालीन लोगो ने स्थानीय परिस्थितियो के अनुसार कई प्रकार के औजार बनाये थे।

इसी प्रकार गगा-यमुना दोआब के ऊपरी भाग मे उत्तरकालीन हडप्पा के स्थलो और गैरिक वर्णीय भाण्ड के माध्यम से हडप्पा की नगरीय परपरा के आने का तर्क भी समुचित नही है। इस क्षेत्र के उत्तरकालीन हडप्पा के स्थलो के विषय मे प्रामाणिक रूप से कुछ नही ज्ञात है। गैरिकवर्णीय भाण्ड की पृथक् सत्ता सर्वस्वीकृत नही है और हडप्पा के भाण्डो के साथ उसका सम्बन्ध विवादग्रस्त है। फिर गैरिकवर्णीय भाण्ड की कोई विशेषता उसके उत्तराधिकारी कृष्णलोहित भाण्ड और पी०जी० भाण्ड द्वारा नही ग्रहण की गई, अतएव नगरीय परपरा इस माध्यम से पूर्व ऐतिहासिक काल तक नही पहुँची होगी।

कौशाम्बी की प्राचीर को १००० ई० पू० के लगभग का कहा गया है और इसे गगा के मैदान मे हडप्पा की नगरीय परपराओ के पुनरुद्धार का प्रमाण माना गया है। किन्तु कौशाम्बी की पुरातात्विक सामग्रियो का समय बहुत अधिक पीछे खीचा गया है जिसका कोई औचित्य नही है। यहा पी०जी० भाण्ड का कोई चिह्न नही मिला है, यहा के प्रारभिक भाण्ड का हडप्पा अथवा नावदाटोली से कोई सम्बन्ध नही है। सिक्को का आरभ नवी शताब्दी ई० पू० मे मानने का भी कोई आधार नही है। प्राचीर का समय भी इतना पुराना नही है, हडप्पा के अन्य तत्वो की अनुपस्थिति मे केवल इसी आधार पर यहा हडप्पा की परपराओ का पुनरुद्धार स्वीकार नही किया जा सकता।

पश्चिमी बिहार के चिराद और सोनपुर और बगाल के पश्चिमी भाग के पाण्डु राजारढिबी मे प्राप्त पूर्वी ताम्राश्म सस्कृतिया १३०० से ७०० ई०पू० की होने के कारण

ऐतिहासिक काल के आरम्भ से अधिक दूर नही हैं, किन्तु उनके प्रमाण का विवेच्य प्रश्न से कोई सम्बन्ध नही है।

इस प्रकार पुरातात्विक साक्ष्य से यह नही सिद्ध होता कि हडप्पा के तत्व उस संस्कृति के बाद भी दीर्घकाल तक बचे रहे। अकेला अपवाद गिलुण्ड की बनाम संस्कृति का है जहा हडप्पा के दो तत्व बृहदाकार निर्माण और पक्की ईंटो की दीवाल–मिले हैं। बनास हडप्पा के केन्द्रो मे बहुत दूर नही था और इसकी उत्पत्ति (२०००ई० पू०) हडप्पा के जीवन-काल मे हुई थी, इस प्रकार इसके हडप्पा से प्रभावित होने की सभावना है। किन्तु इसके विपरीत ये दोनो तत्व भी बनास संस्कृति के अहाड और दूसरे स्थानो मे नही मिलते।

हडप्पा संस्कृति से हिन्दू धार्मिक पद्धति एव दार्शनिक विचारो के कई तत्वों को प्रभावित कहा गया है, यथा शिव-पशुपति, लिंग, मातृदेवी की पूजा, उपनिषद् के सिद्धान्त, सन्यास, जैन धर्म, तन्त्र, सांख्य और योग, किन्तु ये सभी मत काल्पनिक हैं।

समाजशास्त्र और नृतत्वशास्त्र की दृष्टि से तीन भारतीय विशेषताओ को हडप्पा से उत्पन्न कहा गया है–जाति-व्यवस्था, जन्म के आधार पर जातिगत पद को स्थिर करना और रटने की विधि। किन्तु ये सभी तर्क व्यक्ति सापेक्ष हैं, अतीत के अध्ययन मे इन शास्त्रो के प्रमाणो की सीमा यहा स्पष्ट हो जाती है। यह ध्यान मे रखना चाहिये कि कुछ संस्कृतिया समाप्त भी हो जाती हैं। जिस बिन्दु से वर्तमान भारतीय संस्कृति के तत्वो का सातत्य खोजा जा सकता है वह सैन्धव सभ्यता नही है।

इस प्रकार काल और प्रदेश के व्यवधानो को देखते हुए पूर्व–ऐतिहासिक नगरीय परपरा की उत्पत्ति हडप्पा से नही ढूँढी जा सकती।

उत्पत्ति के बारे मे दूसरी सभावना यह है कि प्रभाव विदेश से आया। एक सभव स्रोत फारस का शाखामनी राजवश हो सकता है किन्तु स्वय फारस मे ई० पू० छठी शताब्दी से पूर्व नगर का कोई प्रमाण नही मिलता। यह कहा गया है कि सीमान्त प्रदेश पर ई० पू० छठी शताब्दी के उत्तरार्ध मे फारस के 'उपनिवेशीकरण' के द्वारा भारत के नगरीय विकास को प्रेरणा और सहायता मिली। किन्तु इस प्रकार का कोई उपनिवेशीकरण नही हुआ, केवल एक शाखामनी नरेश ने गधार को अपने अधीन किया था। नगरो की स्थापना के काल मे भारत का मूल भाग शाखामनी आधिपत्य से अप्रभावित था। दूसरा सम्भव स्रोत मध्य एशिया है, किन्तु यहा कास्य काल मे नगरीय विकास की अवस्था नही आई थी, नगरीय निवेश ई० पू० छठी से चौथी शताब्दी मे स्थापित हुए। अत भारतीय नगरो पर इन अविकसित निवेशो के प्रभाव की सम्भावना नही है। सिकन्दर के बाद मध्य एशिया के दक्षिणी भाग और उत्तरी अफगानिस्तान मे कुछ ग्रीक प्रतिरूप के नगरो की स्थापना हुई, किन्तु उस समय तक उत्तरी भारत मे अनेक नगर स्थापित हो चुके थे।

अन्तिम अध्याय मे साराश प्रस्तुत करते हुए लेखक ने कुछ साधारण प्रश्न उठाये हैं। इन नगरो के वितरण के मानचित्र के बारे मे कुछ सिद्धान्त नही स्थापित किया जा सकता।

इनमे से तक्षशिला और चारसदा पश्चिमोत्तर सीमा पर और शेष मुख्यत गगा-यमुना आदि नदियो और मध्य भारत से निकलने वाली सहायक नदियो पर स्थित थे। इन क्षेत्रो की परिस्थितियो का प्रभाव भविष्य मे अध्ययन का विषय हो सकता है। नगरीय विकास की धीमी गति का उसे नगरीय क्रान्ति की सज्ञा देते समय ध्यान रखना होगा। प्रमाणो के अभाव मे किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करना उचित न होगा। इसी प्रकार इनकी विशेषताओ मे एकरूपता ढूढना भी सम्भव नही है। गगा के मैदान मे एन० बी० पी० और सम्बद्ध भाण्डो के कारण एकरूपता है। किन्तु अन्य उपकरणो के विषय मे नही।

इस पुस्तक की प्रमुख विशेषता विवेच्य विषय मे सम्बधित विभिन्न प्रकार की सामग्री का उपयोग है लेखक की बहुमुखी दृष्टि दूसरी विशेषता है। अध्ययन मे इतिहास के सहायक अनेक शास्त्रो की सहायता ली गई है। अद्यावधि उपलब्ध सामग्री, विशेष रूप से पुरातात्विक प्रमाण, को पहली बार इस समस्या के सदर्भ मे एकत्रित करके विश्लेषण किया गया है। लेखक ने दीर्घकालीन अनुभव और प्रौढ बुद्धि के द्वारा प्रमाणो की बडी सयत व्याख्या की है। नई व्याख्याओ की सभावना के लिये द्वार कभी बन्द नही होते। किन्तु लेखक ने जिस प्रकार सभी प्रमाणो, तर्को और मतो का विचार किया है उससे उसके निष्कर्षो मे कोई विशेष परिवर्तन तभी हो सकेगा जब भविष्य मे कोई नया प्रमाण उपलब्ध हो। फिर भी यह कहना आवश्यक है कि इण्डियन इन्स्टिट्यूट ऑव एडवान्स्ड स्टडी की सुविधाओ के साथ लेखक के लिये इस विषय पर अब तक हुए सभी ग्रन्थो और लेखो का सकलन सरल था। लेखक ने कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाओ का कोई भी उल्लेख नही किया है।

लेखक ने साहित्यिक प्रमाणो की ओर यथेष्ट ध्यान नही दिया है। निश्चय ही इस दृष्टि से समकालीन साहित्य बहुत अधिक सहायक नही है, किन्तु अनुवर्ती साहित्य मे पूर्ववर्ती काल की परम्पराओ की स्मृति ढूँढी जा सकती है। प्रस्तुत विषय के अध्ययन के लिये जैन साहित्य की उपयोगी सामग्री का विश्लेषण अपेक्षित है। नगर-प्रशासन और नागरिक जीवन के विषय मे भी साहित्य और अभिलेख इतने मौन नही है जितना लेखक का विचार है। मेगास्थनीज (?) के द्वारा उल्लिखित पाटलिपुत्र की छ समितियो के विषय मे भी रमेशचन्द्र मजूमदार की शकाओ के बाद नये प्रकार से विचार की आवश्यकता है।

पुरातात्विक साक्ष्य के विवेचन की दृष्टि से इस ग्रथ की यह विशेषता है कि कौशाम्बी से प्राप्त सामग्री, सिक्को, प्राचीर और राजप्रासाद की उत्खनन के द्वारा दी गई तिथियो की पुरातत्व विभाग के किसी अधिकारी द्वारा पहली बार प्रकट आलोचना हुई है, इतने वर्षो तक उनके रहस्यात्मक मौन का कारण नही समझ मे आता। हडप्पा के प्रभाव की सभावना को ढहाने के प्रयास मे लेखक ने अनुवर्ती भारतीय जीवन के दूसरे क्षेत्रो मे हडप्पा के तत्त्वो की जो झलक मिलती है उसे पूर्णरूपेण नकार दिया है, उनके अनुसार भारतीय सस्कृति के सातत्य की दृष्टि से सैन्धव सभ्यता का कोई महत्त्व नही है।

इस पुस्तक के सन्दर्भ मे यह उल्लेख करना आवश्यक है कि १६७० के दिसम्बर मास मे लन्दन विश्वविद्यालय के इन्स्टिट्यूट आव आर्केओलाजी मे निबेशो के स्वरूप और

नगरीय परम्परा पर एक त्रिदिवसीय गोष्ठी हुई थी। इसमें कई देशों के अनेक विद्वान् सम्मिलित हुये। प्रारम्भिक काल में मानव निवेशों और नगरों की स्थापना से सम्बन्धित प्रश्नों पर विद्वानों ने अपने-अपने शास्त्र की दृष्टि से विवेचन किया। ये विद्वान मुख्यत पुरातत्व, भूगोल, समाजशास्त्र और नृतत्वशास्त्र से थे किन्तु चिकित्साशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र जीव-विज्ञान, शरीर रचना विज्ञान और विधि जैसे क्षेत्रों के शोधकर्ताओं ने भी योगदान दिया। गोष्ठी के लेख पुस्तकाकार रूप में : उक्को, ट्रिंघम एवं डिम्बलबी (सं०) मैन, सेटिलमेन्ट एण्ड अर्बनिज्म, डकवर्थ एण्ड को०, लन्दन १९७२। विविध दृष्टियों के समन्वय के कारण गोष्ठी अत्यन्त सफल हुई। किन्तु संयोजकों का ऐतिहासिक विधि एवं पुरातात्विक प्रमाण को महत्त्व देना स्वाभाविक था। इस गोष्ठी की सबसे बड़ी कमी भारतीय प्रमाणों की अवहेलना थी। भारत से सम्बन्धित अकेला लेख अवर्णित सा था जो पश्चिमी और मध्यभारत के उत्तरपाषाणकालीन निवेशों से सम्बन्धित था। अमलानन्द घोष ने अपनी पुस्तक में इस गोष्ठी की आंशिक पूर्ति की है। किन्तु उन्होंने गोष्ठी की उपलब्धियों का कोई भी उपयोग नहीं किया है। भारत में नगर निवेशों की स्थापना के अध्ययन में अन्य देशों का अध्ययन तुलनात्मक विवेचन और सम्भावनाओं के प्रस्तुतीकरण में सहायक होगा।

लेखक ने विनम्र होकर अपनी रचना का उद्देश्य भावी शोधकर्ताओं का ध्यान इस विषय की ओर आकर्षित करना बताया है। निश्चय ही उन्हें इस प्रयास में सफलता मिली है। आशा है, भविष्य में इस विषय के विभिन्न पहलुओं का विद्वान विशद विश्लेषण करके नगरीय विकास के स्वरूप को स्पष्ट करेंगे।

६ गुरुधाम कालोनी
वाराणसी-५

फार्म-४

(नियम ८ देखिए)

१ प्रकाशन स्थान	ए-२६/२, विद्यालय मार्ग तिलक नगर, जयपुर–३०२००४.
२ प्रकाशन अवधि	षाण्मासिक
३ मुद्रक का नाम (क्या भारत का नागरिक है ?) (यदि विदेशी है तो मूल देश) पता	गोपीकृष्ण व्यास हाँ — राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी ए-२६/२, विद्यालय मार्ग तिलक नगर, जयपुर–३०२००४
४ प्रकाशक का नाम (क्या भारत का नागरिक है ?) (यदि विदेशी है तो मूल देश) पता	गोपीकृष्ण व्यास हाँ — राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी ए-२६/२, विद्यालय मार्ग तिलक नगर, जयपुर–३०२००४
५ सम्पादक का नाम (क्या भारत का नागरिक है ?) (यदि विदेशी है तो मूल देश) पता	गोविन्दचन्द्र पाण्डे हाँ — राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर.
७ उन व्यक्तियो के नाम व पते जो समाचार-पत्र के स्वामी हो तथा जो समस्त पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक के साझेदार या हिस्सेदार हो ।	राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

मैं गोपीकृष्ण व्यास एतद्द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एव विश्वास के अनुसार ऊपर दिये गए विवरण सत्य हैं ।

गोपीकृष्ण व्यास
प्रकाशक के हस्ताक्षर